"A Study of Vedanta Philosophy in the Light of Socialist Ideals"

समाजवादी आदर्शों के आलोक में वेदान्त दर्शन का अनुशीलन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसंधाता
जटाशंकर
दर्शन विभाग
इ० वि० वि०
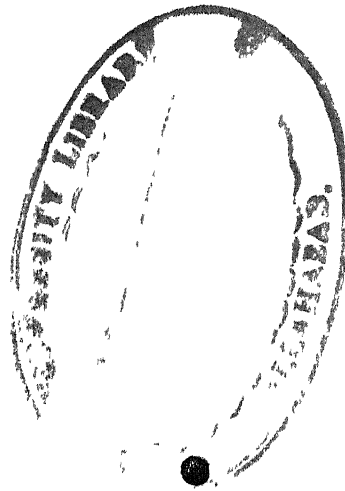
निर्देशक
प्रो० संगमलाल पाण्डेय
भू० पू० अध्यक्ष, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१६८६

प्रस्तावना

समाजवाद आधुनिक युग की प्रमुख विचारधारा है । इसके आदर्शों एवं मूल्यों में ऐसी आकर्षण शक्ति है जो प्रत्येक युवक को सहजरूप से अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । मैं भी इसके आकर्षण से अछूता न रहा । इसके वर्गविहीन समाज और सर्वहारा के अधिनायकतंत्र आदि आदर्शों में तो मुझे ऐसा लगा मानों मानव की आदर्श-समाज की स्थापना की चिरलालसा साकार हो जाएगी और धरती पर पुन: रामराज्य की स्थापना हो जाएगी । इन आदर्शों से प्रेरित होकर मैंने समाजवाद के सर्वांगीण अध्ययन का संकल्प किया जो इस शोध प्रबन्ध" समाजवादी आदर्शों के आलोक में वेदान्त दर्शन का अनुशीलन" के रूप में प्रतिफलित हुआ ।

समाजवाद शब्द का प्रयोग हमें सर्वप्रथम सेन्ट साइमन के विचारों में मिलता है । राबर्ट ओवेन, प्रूधों आदि अन्य विचारकों ने इस विचार-धारा को सँवारा, सजाया और इसके आधार पर समाज-रचना करने का प्रयास किया; किन्तु वे पूर्णरूपेण सफल न हो सके । कालान्तर में मार्क्स का आविर्भाव हुआ जिनकी रचनाओं, विशेषत: पूँजी (दास कैपिटल), में इसका सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है । मार्क्स ने समाजवादी विचारधारा को इतना अधिक प्रभावित किया कि मार्क्सवाद समाजवाद का पर्यायवाची बन गया और अल्पकाल में ही आधी दुनिया पर समाजवादी शासन की स्थापना हो गई । लेनिन के नेतृत्व में अक्टूबर 1917ई0 की रूसी-क्रान्ति से समाज-वादी शासन की स्थापना के युग का श्रीगणेश हुआ और देखते-देखते 1954 ई0

तक में हंगरी, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, रूमानिया, बुल्गारिया, चीन, उत्तरी मंगोलिया और क्यूबा आदि अनेक देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई तथा विश्व के अन्य देशों में भी इस दिशा में प्रयास चल रहा है । जहाँ अन्य प्रकार के शासनतंत्र स्थापित हैं,वहाँ भी समाजवादी आदर्श ही निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में कार्य कर रहे हैं ।

इस विचारधारा के गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जहाँ एक ओर समाजवाद ने समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व आदि आदर्शों का प्रचार-प्रसार किया और पूँजीपतियों तथा सामन्तों के चंगुल में फँसी निरीह जनता को शोषण से मुक्ति प्रदान की और उन्हें मानव के रूप में जीने का अवसर प्रदान किया,वहीं दूसरी ओर रक्त -रंजित क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष और पारस्परिक विद्वेष जैसे मानवता-विरोधी दोष भी दिखाई पड़े । परिणामस्वरूप सहज रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या कोई ऐसा समाजवाद संभव है ,जहाँ उपर्युक्त दोषों का अभाव हो? जहाँ समानता आदि आदर्शों की स्थापना बिना रक्तपात के हो सके; जहाँ मानव स्वतंत्रता का दमन किये बिना अपने अधिकारों का उपभोग कर सके ।

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के प्रयास में मैं भारतीय दर्शन विशेषकर वेदान्त (अद्वैत वेदान्त) की ओर उन्मुख हुआ,जो लौकिक, अलौकिक और पारलौकिक रत्नों का आगार है । अलौकिक एवं पारलौकिक रत्नों के

आगार के रूप में तो इसे परम्परागत रूप में अनेक मनीषियों ने स्वीकार किया है, किन्तु लौकिक रत्नों के आगार के रूप में भी अनेक आधुनिक वेदान्ती विचारकों ने स्वीकार किया है ।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त के विषय में यह सामान्य भ्रान्ति है कि यह जगत्-निषेधक है, किन्तु इसके गहन अध्ययन के अनन्तर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह दर्शन लोक-चिन्तन से भरा पड़ा है ।

वेदान्त और समाजवाद के चरम उद्देश्यों में अत्यन्त साम्य है । दोनों का सामाजिक लक्ष्य लगभग एक है । दोनों ही व्यक्तिगत उत्पादक सम्पत्ति को समाप्त करके सामाजिक समता की स्थापना करना चाहते हैं । वेदान्त दर्शन में अपरिग्रह और वैराग्य आदि का वही अर्थ है, जो समाजवाद में व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का है । वेदान्त दर्शन के आधुनिक विचारकों, विशेषत: स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी रामतीर्थ ने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि वेदान्त का सामाजिक लक्ष्य समाजवाद के लक्ष्य से भिन्न नहीं है और इस उद्देश्य से इन मनीषियों ने इसे व्यावहारिक वेदान्त (Practical Vedanta) नाम दिया, जो लोकपरक एवं समाजवाद के अत्यन्त निकट है । डा० सम्पूर्णानन्द ने तो यहाँ तक कहा कि समाजवाद और वेदान्त के आदर्शों में कोई विरोध है ही नहीं । तथापि वेदान्त और मार्क्सवाद की समाजवादी पद्धति में अन्तर अवश्य है । महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण और लोहिया जैसे विचारकों ने इस अन्तर को समझा और सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहिष्णुता,

अपरिग्रह, दान और यज्ञ जैसे वेदान्ती आदर्शों को आधार बनाकर एक नया मार्ग खोजने का प्रयास किया, जिससे समाजवाद वेदान्त-सम्मत बन सके और हिंसा, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष आदि दोषों से मुक्त हो सके ।

वेदान्त -सम्मत समाजवाद आदिम और अविकसित प्रतीत हो सकता है । यह वैज्ञानिक-समाजवाद की अपेक्षा कम विकसित लग सकता है । यह अपनी पारमार्थिक दृष्टि, आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण रूढ़िवादी, क्रान्ति-विरोधी तथा अनाकर्षक प्रतीत हो सकता है, तथापि यह रक्त-रंजित क्रान्ति, हिंसा, वर्ग-विद्वेष और वर्ग-संघर्ष के दोषों से मुक्त होने के कारण वैज्ञानिक समाजवाद का एक आदर्श विकल्प बन सकता है, इसमें सन्देह नहीं । अपूर्ण मानव द्वारा कल्पित कोई भी विचारधारा पूर्ण नहीं हो सकती । अतः वैज्ञानिक समाजवादियों द्वारा व्यावहारिक वेदान्त की, रूढ़िवादी और क्रान्ति-विरोधी कहकर, आलोचना करना समीचीन नहीं । वैज्ञानिक समाजवाद तो और भयंकर दोषों से ग्रस्त है, जो अन्ततोगत्वा अपनी हिंसा परक प्रवृत्तियों द्वारा समस्त समाज को ही नष्ट कर देगा । हमें केवल यह देखना है कि क्या वेदान्त के आदर्शों का आश्रय लेकर वैज्ञानिक समाजवाद को उन दोषों से मुक्त किया जा सकता है जो उसके उच्च आदर्शों को मलिन करते हैं ।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के दो उद्देश्य हैं - प्रथम है वेदान्त में सन्निविष्ट समाजवादी आदर्शों के विवेचन द्वारा इस दर्शन पर

लोक-निषेधक होने के आक्षेप का निराकरण और द्वितीय है समाजवाद (वैज्ञानिक) के वर्ग-संघर्ष, स्वातंत्र्य-दमन एवं रक्त-क्रान्ति जैसे दोषों का निराकरण ।

इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इस शोध-प्रबन्ध को चार खण्डों में विभक्त किया गया है । प्रथम खण्ड में समाजवादी आदर्शों का विवेचन किया गया है । द्वितीय खण्ड वेदान्त दर्शन द्वारा समाजवादी आदर्शों के समर्थन का अध्ययन करता है । इस खण्ड में शोध-प्रबन्ध के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय समाविष्ट हैं । तृतीय खण्ड आधुनिक वेदान्तियों पर समाजवाद के प्रभाव का विवेचन करता है । इस खण्ड में चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम अध्याय सम्मिलित हैं । इस खण्ड में यह खोजने का प्रयास किया गया है कि वेदान्ती विचारक किस रूप में और किस सीमा तक समाजवादी आदर्शों से प्रभावित हुए हैं । पुनश्च यह भी विवेचन किया गया है कि इन आदर्शों को उन्होंने किस प्रकार समाज के लिए हितकर एवं उपयोगी बनाया । चतुर्थ खण्ड आधुनिक भारतीय समाज विचारकों पर वेदान्त के प्रभाव को दर्शाता है । इस खण्ड में अष्टम, नवम, दशम और एकादश अध्याय समाविष्ट हैं । इस विवेचन में वेदान्त के आदर्शों का सामाजिक सिद्धान्तों पर प्रभाव निरूपित है महात्मा गाँधी, जयप्रकाश नारायण, डा० लोहिया एवं डा० सम्पूर्णानन्द ने किस प्रकार वेदान्त के मूल्यों का समाजीकरण किया है, यह इस खण्ड का मुख्य विवेच्य है ।

वेदान्त पर समाजवादी आदर्शों का तथा समाजवाद पर वेदान्ती आदर्शों का प्रभाव इन दोनों विचारधाराओं की निकटता को सिद्ध करते हैं ।

इस दुष्कर कार्य में मुझे अनेक स्वजनों, मनीषियों, गुरुजनों एवं मित्रों का आशीष एवं सहयोग मिला, मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ । सर्व प्रथम अपने पितृतुल्य अग्रजों पं0 कमलाशंकर तिवारी एवं श्री रामाश्रय तिवारी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी छत्रच्छाया में यह शोधकार्य अबाध गति से चला और मुझे किसी प्रकार के आर्थिक संकट तथा बाह्य संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा ।

गुरुदेव प्रो0 संगमलाल पाण्डेय के प्रति मैं अपना आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ, जिनके आशीर्वाद का मूर्तरूप यह शोध-प्रबन्ध है । उनके साथ हुए वार्तालापों से मिले अमूल्य तत्वों से इस शोध-प्रबन्ध को सँवारा गया है तथा उनके अनेक मौलिक विचारों को भी शब्दों में ढालने का प्रयत्न किया गया है ।

गुरुजनों में प्रो0 एस0एस0 राय, (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग), प्रो0 जे0एस0 श्रीवास्तव अध्यक्ष, दर्शन विभाग, श्री श्याम किशोर सेठ, डा0 आर0एस0भटनागर, डा0 डी0एन0द्विवेदी, डा0 आर0एल0 सिंह तथा डा0 सी0एल0 त्रिपाठी के उत्साह-वर्धक निर्देशों से मुझे जो लाभ मिला वह महत्वपूर्ण है । डा0 त्रिपाठी ने अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रमों के मध्य इस

शोध-प्रबन्ध पर एक दृष्टि डालकर अनेक महत्त्वपूर्ण परिमार्जन किये, उसके लिए मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ ।

मित्रों में डा० नरेन्द्र सिंह, सुश्री गौरी जी, श्रीमती आशालाल, डा० हरिशंकर उपाध्याय, डा० शंकर दयाल द्विवेदी ‖संस्कृत विभाग‖, डा० के०एस० ओझा ‖दर्शन विभाग, बी०एच०यू०‖ ने समय-समय पर मुझे अपने समुचित सुझावों से लाभान्वित किया तथा मेरा उत्साहवर्धन किया । इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ ।

स्वर्गीय श्री एस०एस० डी० शर्मा का इस शोध-प्रबन्ध को शीघ्र समाप्त कर प्रस्तुत करने का निरन्तर निर्देश रहता था । मैं उनका हृदय से आभारी हूँ । काश ! वे इस समय होते । मैं उन समस्त गुरुजनों एवं सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस कार्य में मेरी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता की । मैं खन्ना बन्धुओं के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अत्यन्त अल्पकाल में इस शोध-प्रबन्ध को समुचित रूप से टंकित करने की श्लाघनीय व्यवस्था की । अपनी पत्नी श्रीमती निर्मला के प्रति आभार के दो शब्द न कहना अन्याय होगा, जिन्होंने सदैव ही गार्हस्थ्य जीवन के वातावरण को शान्त और सौहार्दपूर्ण बनाये रखा तथा मुझे इस कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने के लिये अहर्निश प्रेरित करती रहीं । अन्त में मेरा आभार उस ज्ञान-परम्परा को समर्पित है, जिसके द्वारा समस्त चिन्तन-मनन संभव हो पाता है ।

विषय - सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय- 1

समाजवादी आदर्शों का इतिहास

समाजवादी आदर्शों का इतिहास

समाजवाद आधुनिक युग में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उपजी विचारधारा है । इसकी उत्पत्ति प्राचीन यूनान में भी खोजने का प्रयास किया जाता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि प्लेटो सर्वप्रथम दार्शनिक है जिसने इनविचारों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया । वह न केवल सम्पत्ति के समान वितरण एवं सामूहिक स्वामित्व के पक्ष में था, वरन् व्यक्तिगत पारिवारिक प्रथा का अन्त कर स्त्रियों और बच्चों का भी समाजीकरण करना चाहता था ।[1] इसके सदृश कुछ अन्य विचार भी यदाकदा प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं, किन्तु इन्हें वर्तमान समाजवाद की पूर्व पीठिका नहीं कहा जा सकता । वर्तमान युग में जिस विचारधारा के रूप में समाजवाद को देखा जाता है, उसका बीज फ्रान्स के राजनीतिक विचारों में- जिनमें समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की प्रधानता है- मिलता है । इसीलिए फ्रांस को समाजवादी विचारों की पौधशाला कहा गया है ।[2] व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण स्वरूप के कारण समाजवाद को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह सिद्धान्त और आन्दोलन दोनों है । तथापि इसे उस आन्दोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो उत्पादन के मुख्य साधनों के समाजीकरण पर आधारित वर्गहीन समाज स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है और जो श्रमजीवी वर्ग को मुख्य आधार बनाता है, जिसका ऐतिहासिक कार्य वर्ग-व्यवस्था का अन्त करना है ।[3]

उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध में समाजवाद शब्द का प्रचलन इसके उस अर्थ में हुआ, जिसमें इसे आज स्वीकार किया जाता है । सन् 1827 ई० में इंग्लैण्ड की कोआपरेटिव मैगजीन में सोशलिस्ट शब्द का प्रयोग राबर्ट ओवेन के अनुयायियों के लिए किया गया तथा लिग्लोब नामक फ्रांसीसी पत्र में 1833 ई० में सोशलिज्म शब्द का प्रयोग सेण्ट साइमन के सिद्धान्तों के लिए हुआ[4]। " मेनिफेस्टो आफ द कम्युनिस्ट पार्टी " में मार्क्स और एंगेल्स ने समाजवाद के अनेक विशेषणों का उल्लेख किया है ।[5] इनमें से कुछ विशेषण तो केवल उपहास या आलोचना के निमित्त लगाए गए हैं, और कुछ का संबंध समाजवाद के उन स्वरूपों से भी है, जो मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारकों ने निर्धारित किए थे । सामन्तवादी-समाजवाद और पूँजीवादी-समाजवाद जैसे उल्लेख तो केवल आलोचना एवं उपहास के निमित्त किए गए हैं । कुछ अन्य नामों में ट्रू सोशलिज्म, स्टेट सोशलिज्म, क्रिश्चियन सोशलिज्म, डेमोक्रेटिक सोशलिज्म आदि उल्लेखनीय हैं, जो भिन्न-भिन्न देशों और कालो में विकसित हुए । इन्हीं सिद्धान्तों के विकास के फलस्वरूप मार्क्स के समाजवादी विचारों का निर्माण हुआ । मार्क्स का सिद्धान्त आज समाजवाद का निष्कर्ष बना हुआ है । किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि मार्क्स के बाद के युगों में समाजवादी विचारधारा अवरुद्ध हो गई । वास्तविकता यह है कि मार्क्सोत्तर काल में भी समाजवादी विचारों का विकास जारी रहा है । कालान्तर के विचारों में मार्क्स को समर्थन और विरोध दोनों प्राप्त हुए हैं । प्रस्तुत अध्ययन में सम्पूर्ण इतिहास को प्रमुखतः तीन भागों में बाँटा गया है -

1- मार्क्स-पूर्व समाजवाद

2- मार्क्स और एंगेल्स का समाजवाद

3- मार्क्सोत्तर समाजवाद

इस विभाजन का अभिप्राय यह दिखाना है कि मार्क्स पूर्व समाजवाद के अनेक तत्त्व समाजवाद के तीनों भागों मे समान रूप से पाये जाते हैं, इन्हें समाजवाद के मूलभूत सिद्धान्त कहा जा सकता है । कालक्रम की दृष्टि से समाजवादी विचारकों को निम्नांकित क्रम में रखा जा सकता है ।

मार्क्स-पूर्व समाजवाद

सेण्ट साइमन - काम्टे हेनरी डी सेन्ट साइमन ॥1760-1825॥ का जन्म पेरिस में हुआ था । ये अत्यन्त प्रखर मेधा सम्पन्न व्यक्ति थे । इनके समाजवादी विचार तत्कालीन व्यक्तिवाद के विरोध में उत्पन्न हुए थे । व्यक्तिवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था से वे असन्तुष्ट थे । उन्हें इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही विधमान सुधार के बीज दिखाई पड़ रहे थे । विज्ञान और तकनीकी के विकास के द्वारा तत्कालीन समाज-व्यवस्था के परिवर्तन का उन्होंने संकल्प किया । सुधार की संभावना केवल उधोगों में ही उन्हें दिखाई पड़ती है ।[6] उधोगपतियों एवं तकनीकी विदों ने इस नई व्यवस्था का आरम्भ कर दिया था । उनका यह विश्वास था कि विज्ञान और तकनीकी का प्रचलित व्यक्तिवादी व्यवस्था के साथ संयोग होने पर विशेषज्ञों के शासन का युग आएगा । वे इसी व्यवस्था के पक्षधर थे । इन विचारों को प्रकट करने वाले उनके निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं- 1- द री-आर्गनाइजेशन आफ द यूरोपियन सोसाइटी ॥1814॥ 2- इण्डस्ट्री ॥1817-1818॥

3- द पोलिटिक ॥1819॥ 4- द इण्डस्ट्रियल सिस्टम ॥1821॥ 5- द-कैथिज्म आफ इण्डस्ट्रीज ॥1823-24॥

सैन्ट साइमन औद्योगिक समाज की रचना करना चाहते थे। उनकी कल्पना का यह नया समाज समतावादी न था। प्रकृति ने सबको समान नहीं बनाया है अतः पूर्ण समता को वे संभव नहीं मानते थे।[7] किन्तु अन्तर्निहित शक्ति के विकास के समान अवसर को वे आवश्यक मानते थे। यह अवसर उद्योगों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकते हैं। समानता के आदर्श को प्रत्यक्षतः स्वीकार न करते हुए भी उन्होंने सामान्य-हित की रक्षा के लिए सैद्धान्तिक प्रयास किया है, अतः उन्हें सामान्यतः समाजवादी माना जा सकता है। उनके विचारों में संगठन का अभाव झलकता है। इसी कारण उनकी प्रखर मेधा का पूर्ण सदुपयोग न हो सका। उनके विचारों में समाजवाद का केवल अंश ही दिखाई पड़ता है। इस संबंध में प्रो० न्यूमेन का कथन है कि जबकि यह स्वीकार किया जाता है कि सैन्ट साइमन के विचार काल्पनिक थे, उन्हें समाजवादी वर्ग में रखना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ में उन्होंने निजी सम्पत्ति को समाप्त करने का समर्थन नहीं किया है।[8] किन्तु राज्य अथवा प्रशासन की ओर से धन-हीन किन्तु योग्यता सम्पन्न लोगों की सहायता की सिफारिश उन्होंने की है।[9] योग्यता का निष्कर्ष क्या हो? इस प्रश्न पर साइमन व्यक्तिवादी नहीं अपितु समाजवादी उत्तर देते हैं,[10] अतः उन्हें समाजवाद के संस्थापक विचारक के रूप में स्वीकार करना उचित है।

सेन्ट साइमन समाज की कल्पना एक वैविध्यपूर्ण कर्मशाला के रूप में करते हैं। इस कर्मशाला सिद्धान्त का परोक्ष प्रभाव यह होगा, कि सरकार व्यक्तियों पर शासन करने की अपेक्षा वस्तुओं पर शासन करने के प्रति समर्पित होगी, अर्थात् राजनीति के स्थान पर अर्थशास्त्र की स्थापना हो सकेगी।[11]

समाज को व्यवस्थित उद्योग प्रदान करके तथा राजनीति के स्थान पर अर्थशास्त्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करके साइमन ने समाजवाद के एक आयाम को विकसित किया है। एमाइल दुरखीम ने अपने विश्लेषण में यह सिद्ध किया है कि यदि आर्थिक-हित सर्वोपरि है तो इसकी पूर्ति उद्योग व्यवस्था पर बल देकर अधिकतम संभव उत्पादन प्राप्त करके की जा सकती है।[12] पुनश्च उन्होंने यह भी कहा कि उद्योग के समाजीकरण के बिना समाज औद्योगिक नहीं हो सकता। अस्तु औद्योगीकरण तर्कतः समाजवाद तक पहुंचता है।[13] दुरखीम के तर्क न्यूमेन के तर्कों से अधिक सबल हैं, अतः साइमन को संस्थापक-समाजवादी के रूप में स्वीकार करना ही उचित है।

सेन्ट साइमन के अनुयायी उनकी अपेक्षा अधिक समाजवादी दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार नई औद्योगिक-व्यवस्था निजी-सम्पत्ति के साथ नहीं चल सकती। उन्होंने सत्ता एवं सम्पत्ति की वंशानुगत व्यवस्था का विरोध किया और यह स्वीकार किया कि सम्पत्ति का सही अधिकार राज्य को है, जिससे सम्पूर्ण समाज को विकास का समान अवसर मिल सके।

साइमन वादियों के समाजवादी विचार कई दृष्टियों से क्रान्तिकारी

और नवीन होते हुए भी अपूर्ण दिखाई पड़ते हैं । सबसे बड़ा दोष यह है कि निजी-सम्पत्ति को सार्वजनिक-सम्पत्ति कैसे बनाया जा सकता है ? इसका वे कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देते । इसके कई विकल्प संभव हैं, यथा-कानून द्वारा सम्पत्ति जब्त करके अथवा जन-सामान्य की इच्छा से या क्रान्ति के द्वारा । उनके विचारों में सामाजिक-परिवर्तन का कोई गतिसिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता । फिर भी इन विचारों का महत्त्व है । इनसे समाजवादी विचारों के विकास को एक दिशा अवश्य मिलती है ।

फ्रान्सिस मेरी चार्ल्स फारियर -

फारियर ।1772-1837। का जन्म फ्रान्स में बेसनकन नामक स्थान पर हुआ था । ये तत्कालीन समाज-व्यवस्था से क्षुब्ध थे । उन्होंने देखा कि एक ओर लोग भूखों मरते हैं और दूसरी ओर खाद्यान्नों का भण्डार नष्ट हो रहा है । यह निश्चित ही किसी सामाजिक दोष के कारण संभव होता है । मुख्य रूप से उनका असन्तोष तत्कालीन अर्थव्यवस्था को लेकर ही था । उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं- 1- थ्योरी आफ फोर मूवमेण्ट्स एण्ड द जनरल डेस्टिनीज़ ।1808। 2- द थ्योरी आफ युनिवर्सल यूनिटी ।1822। और 3- द न्यू इण्डस्ट्रियल एण्ड सोशल वर्ल्ड । 1829।

समाज के जिस परिवर्तन की आशा फारियर को थी वह केवल सीमित परिवर्तन नहीं था अपितु उसमें सम्पूर्ण प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड का परिवर्तन

भी सम्मिलित था । फारियर एक ऐसे सार्वभौम नियम की ओर संकेत करते हैं, जो मनुष्यों को आपस में मिलाता है और सामूहिक ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है । इस नियम के संचालन में जो मनुष्यकृत बाधाएं उत्पन्न हुई हैं, उन्हीं के कारण सामाजिक -दोष उत्पन्न हुए हैं ।[14] इन दोषों को दूर करने के लिए फारियर ने समाज के छोटे समूहों के निर्माण को आवश्यक बताया है । इस समूह को उन्होंने फैलंक्स नाम दिया है । इन समूहों में मानव-जीवन किसी नियंत्रण में नहीं होगा । वह अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र होगा ।

भूमि और श्रम के सम्बन्ध में फारियर ने कुछ मौलिक विचार दिये हैं । बड़े नगरों को फैलंक्स में विभाजित करके मनुष्य को अधिक सुखी बनाया जा सकता है । फैलंक्स की भौगोलिक स्थिति के विषय में उन्होंने कहा है कि यह पर्वतों से घिरा और नदी के तट पर स्थित होना चाहिए । प्रकृति के प्रति उनका उत्कट प्रेम भी इन विचारों से प्रकट होता है ।

फारियर ने जिस समाज की प्रस्तावना की है, वह किसी स्वर्ग-लोकीय कल्पना के सदृश नहीं है । मानव जीवन की सहज भावनाओं से वह आरम्भ करता है और यह स्थापित करता है कि इन्हीं भावनाओं का सभ्यता द्वारा दमन मानव कष्टों का जन्मदाता है ।[15]इन भावनाओं की स्वतंत्रता को वह आवश्यक मानता है । सेन्टसाइमन ने जहाँ औद्योगीकरण को समाजवाद का मूल माना था, फारियर ने स्वतंत्रता को मूल के रूप में

स्वीकार किया है । अनेक मानव-भावनाओं में से वह प्रेम को सर्वोत्कृष्ट भावना मानता है । सभ्यता के द्वारा इसका जो दमन किया जाता है, उसका विरोध फारियर ने किया है । उसने कहा है कि यह सभ्यता ईश्वरीय विधान के विपरीत दिखाई पड़ती है ।[16] प्रेम और स्वतंत्रता के माध्यम से समाजवाद की स्थापना का सिद्धान्त फारियर ने दिया । ये समाजवादी आदर्शों के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । फारियर ने इस प्रसंग में प्रेम से आगे बढ़कर यौन - सम्बन्धों की मुक्तता का पक्ष भी लिया है, जिसका कोई समाजवादी-औचित्य नहीं दिखाई पड़ता । इन्हीं अतिरंजित विचारों के कारण उन्हें इतिहासकार "पागल से कुछ अधिक " कहकर संबोधित करते हैं ।[17]

श्रम की स्वतंत्रता पर उन्होंने बल दिया है । पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम स्वतंत्र नहीं होता । श्रम को सुख और आनन्द का स्रोत होना चाहिए, किन्तु उसके स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न दोषों के कारण यह अभिशाप एवं कष्ट का हेतु बन गया है । पूँजीवादी स्पर्धा के फलस्वरूप इजारेदारी अस्तित्व में आ जाती है, निहित स्वार्थी समाज को अधिकाधिक अपने शिकंजे में कस लेते हैं और सामन्तवाद की पुनः स्थापना का भय उत्पन्न हो जाता है ।[18] इससे समाज को मुक्त रखने के लिए फारियर ने फैलंक्स के निर्माण की व्यवस्था की । फैलंक्स का जीवन समाजवादी जीवन का ही लघुरूप था । सीमित संख्या के लोगों के साथ जीवन जीने की यह विधि व्यापक समाजवादी समाज की तैयारी समझी जा सकती है ।

सेन्ट साइमन ने जहाँ विशेषज्ञों के शासन की कल्पना की थी, उसके स्थान पर फारियर ने प्रेम, सहानुभूति आदि के माध्यम से लोगों में परस्पर एकरसता लाने की बात कही है । इस दृष्टि से फारियर साइमन की अपेक्षा अधिक समाजवादी है ।

रार्बट ओवेन (1771-1858)

ओवेन का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ था । आरंभिक अवस्था में ही वे व्यापार की ओर उन्मुख हुए । 18 वर्ष की आयु में उन्होंने ऋण लेकर मैनचेस्टर में कपड़ा बनाने वाली मिलों का कारखाना आरंभ किया । कालान्तर में ड्रिंकवाटर नामक उद्योगपति ने ओवेन को अपने संस्थान का प्रबन्धक नियुक्त किया । कुछ ही समय बाद वे उस संस्थान के हिस्सेदार हो गये । उनके जीवन का चरमोत्कर्ष उस समय हुआ जब उन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में न्यू लेनार्क के वस्त्र उद्योगों को खरीदा और स्वयं उनके सहस्वामी और निदेशक बने । उद्योगों के प्रति ओवेन की सुधारवादी दृष्टि निश्चय ही तत्कालीन समाज के लिए दर्शनीय और अनुकरणीय थी । मानवता के कल्याण के लिए जिन विचारों को उन्होंने स्थापित किया था, उनको कसौटी पर कसने के लिये यह संस्थान समुचित साधन था । 1824 में उन्होंने न्यूलेनार्क की सम्पदा बेचकर अमेरिका के इण्डियाना में "न्यू हारमनी" नामक एक नयी बस्ती का निर्माण कराया, किन्तु उनका यह प्रयोग असफल रहा ।

ओवेन अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिक सुलझे विचारक थे ।

औद्योगिक क्षेत्र में वे सहकारिता के पक्षधर थे । इस क्षेत्र में व्याप्त प्रति-स्पर्धा को समाप्त करके तथा अच्छी शिक्षा का प्रसार करके इसकी बुराइयों को दूर करने का प्रयास ओवेन ने किया । ओवेन की ट्रेड यूनियन तथा आदर्श ग्राम " न्यूहारमनी" की योजनाएं असफल रहीं, फिर भी उनके विचारों का समाजवादी परम्परा में अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान है । उनके विचारों को इस परम्परा की नींव माना जाता है । ओवेन का यह विश्वास था कि उत्पादक शक्ति विश्व को धन से परिपूर्ण करने में समर्थ है, और इस शक्ति को निरन्तर वृद्धि की स्थिति में रखा जा सकता है ।[19] इसे निरन्तर वृद्धि की स्थिति में रखने के लिए कुछ सामाजिक सुधारों की आवश्यकता है । उनका सम्पूर्ण समाजवादी कार्यक्रम इन्हीं सुधारों के लिए संचालित था ।

ओवेन के विचार उनके निम्नलिखित ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं -

1- ए न्यू व्यू आफ सोसाइटी । 1812।

2- द बुक आफ द न्यू मोरल वर्ल्ड । 1820।

3- ह्वाट इज़ सोशलिज़्म । 1841।

ओवेन के समाजवादी विचारों का केन्द्रविन्दु श्रमिकों के कल्याण की भावना है । इसी भावना से उन्होंने अपने समकालीन औद्योगिक क्षेत्र को अद्भुत नेतृत्व प्रदान किया । उनके विचारों को निम्नलिखित प्रकारों में बाँटा जा सकता है -

क - श्रम कल्याण संबंधी विचार

ख - पर्यावरण का निर्माण

ग - समाजवादी उपनिवेशों की स्थापना

घ - लाभ की समाप्ति

ङ॰ - राष्ट्रीय समान श्रम विनिमय

श्रम-कल्याण संबंधी विचारों में उनके द्वारा किए सुधार महत्त्वपूर्ण हैं । इन सुधारों को निम्नलिखित रूप में रखा जाता है -

क- श्रम के घण्टे 17 से घटाकर 10 कर दिये गये ।

ख - दस वर्ष से कम आयु के बच्चों को श्रम से अलग रखकर उनकी निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था ।

ग - श्रमिकों के लिए निःशुल्क चिकित्सा ।

घ - श्रमिकों के उपयोग की वस्तुओं की व्यवस्था तथा आवास के लिए मकान का निर्माण ।

ङ॰ - श्रमिकों के मनोरंजन की व्यवस्था ।

च - श्रमिकों के लिए बीमा कोष की व्यवस्था ।

छ - कारखानों में लगाए जाने वाले समस्त जुर्माने समाप्त कर दिए गए ।

अपने इन सुधारवादी विचारों को क्रियान्वित करने के लिए ओवेन ने न्यूलेनार्क में स्थापित अपनी मिलों को प्रयोगशाला बनाया । मिलों के बन्द रहने पर भी उन्होंने श्रमिकों को वेतन दिया । इस कारण श्रमिकों

ने पूरी मेहनत और सत्यनिष्ठा से कार्य किया और उत्पादन में काफी वृद्धि हुई । इसकी चर्चा काफी दूर-दूर तक फैल गई और विभिन्न क्षेत्रों के उद्योगपति, राजनीतिज्ञ और समाज सुधारक न्यूलेनार्क मिल देखने के लिए आए ।[20] ओवेन को यह आशा थी कि उनके इन सुधारों को व्यापक रूप से उद्योगपति अपनाएंगे, किन्तु इसके विपरीत उनके विचारों का उपहास ही हुआ । तथापि इन सुधारों का दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि उद्योग के सम्बन्ध में कानूनों का निर्माण इन्हें आधार बनाकर ही किया गया । अपने विचारों को असफल होता देखकर ओवेन ने पर्यावरण का सुधार करना आरम्भ किया । उन्हें यह विश्वास था कि नए वातावरण में समस्त सामाजिक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो सकेगा ।

व्यक्ति की अच्छाई और बुराई के लिए वे वातावरण को उत्तरदायी मानते थे । अतः वातावरण को सुधार कर ही व्यक्ति को सुधारना संभव है । उनके अनुसार मनुष्य की प्रगति में तीन प्रमुख बाधाएं हैं - धर्म, निजी-सम्पत्ति और विवाह-संस्था ।[21] इन बाधाओं को दूर करके ही उसकी अच्छी प्रवृत्तियों को जागृत एवं विकसित किया जा सकता है । उन्होंने यह भी स्थापित किया है कि व्यक्ति की क्षमता का विकास वातावरण से होता है । अतः अल्प क्षमता वाले लोगों को भी अधिक क्षमता वालों के समतुल्य आर्थिक आय हो, इसको मान्यता मिलनी चाहिए । किन्तु उनके ये विचार अव्यवहारिक सिद्ध हुए । इन्हें स्वीकार करने के लिए वह युग तैयार नहीं था ।

ओवेन ने नवीन वातावरण के निर्माण के लिए नए उपनिवेशों की स्थापना को माध्यम बनाया । न्यूहारमनी की स्थापना इसी साँचे में हुई, किन्तु इनकी असफलता के बाद भी उपनिवेशों का क्रम बन्द नहीं हुआ । 1826 में स्काटलैण्ड में आर्विस्टन नामक स्थान पर अपने दो शिष्यों के साथ ओवेन ने एक नया उपनिवेश बनाया । साम्यवादी रूप से स्थापित इस उपनिवेश में समान वेतन और समान काम के सिद्धान्त की स्थापना की गई थी । किन्तु यह प्रयोग भी बहुत लंबे समय तक न चल सका क्योंकि ओवेन के एक शिष्य की एक वर्ष पश्चात् ही मृत्यु हो गयी । कालान्तर में इसे नीलाम कर देना पड़ा । हेम्पशायर में क्वींस वुड नामक स्थान पर 1839 में ओवेन के समर्थकों ने एक नए उपनिवेश की स्थापना की, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह 1845 में समाप्त हो गया । ओवेन का यह प्रयोग भी असफल ही रहा । उपनिवेशों की स्थापना सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित थी । इनकी असफलता से इनका महत्त्व समाप्त नहीं होता । ओवेन के सहकारितावाद के समर्थक विलियम थाम्सन ने स्वीकार किया है कि इन प्रयोगों की असफलता अभिजात तंत्रीय गठबन्धन का परिणाम थी, जो स्वभावत: श्रमिक-वर्ग के शत्रु हैं ।[22] उन्होंने ओवेन के इन प्रयोगों को महत्त्व-पूर्ण उपयोगी एवं समाजवादी परिवर्तन की नींव माना है ।

उत्पादन लागत के अतिरिक्त जो धन लिया जाता है उसे लाभ कहते हैं । ओवेन इसकी समाप्ति चाहते थे । यह समाप्ति नैतिक आधार पर की गई थी । उनका विचार था कि यह अतिरिक्त धन अनुचित एवं पाप है । लाभ ही श्रमिकों के शोषण का कारण है अत: वस्तुओं का विक्रय लागत मूल्य

पर ही होना चाहिए । इससे अधिक मूल्य पर विक्रय करना अन्यायपूर्ण है । लाभ की समाप्ति करके ही शोषण को समाप्त किया जा सकता है । अत: उन्होंने ऐसी व्यवस्था की खोज की जो लाभ की प्रणाली के बिना ही कार्यान्वित हो सके ।[23] उनके ये विचार कालान्तर में मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद में अतिरिक्त मूल्य के रूप में निरूपित हुए । वस्तु विनिमय को मुद्रा के माध्यम से प्रचलित करना गलत है । ओवेन यह मानते थे कि विनिमय का माध्यम श्रम ही होना चाहिए ।

सन् 1833 में लन्दन में उन्होंने श्रम विनिमय के सिद्धान्त को लागू करने के लिए " राष्ट्रीय समान श्रम विनिमय" की स्थापना की । यह औद्योगिक श्रमिकों की एक सहकारी संस्था थी । इस संस्था में प्रत्येक सदस्य अपने श्रम के उत्पादन को एक केन्द्रीय भण्डार में जमा करके उसके बदले एक श्रमपत्र प्राप्त करता था । इस श्रमपत्र से समान श्रममूल्य वाली कोई भी वस्तु वह प्राप्त कर सकता था । इसका आरम्भ लाभ की समाप्ति के उद्देश्य से किया गया था । उपर्युक्त विधि से उत्पादक और उपभोक्ता के बीच सीधा संबंध स्थापित हो जाने से लाभ स्वयंमेव समाप्त हो जाता है ।

थोड़े समय बाद ओवेन की यह व्यवस्था भी समाप्त हो गई । श्रम मूल्य के आधार पर विक्रय मूल्य निर्धारित न करने के बजाए विक्रय-मूल्य के आधार पर श्रम का मूल्यांकन होने लगा । फलस्वरूप भण्डारों में केवल निकृष्ट और मंहगी वस्तुएं ही रह गई । ओवेन को इस कार्यक्रम की असफलता

का अत्यधिक खेद था । फिर भी इसे वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज मानता था और कालान्तर में जिन सहकारी समितियों का गठन हुआ उन पर ओवेन के विचारों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा ।

राबर्ट ओवेन के समाजवादी विचार केवल विचारों तक ही सीमित रह गए । उन्हें व्यावहारिक रूप देने के भी प्रयास हुए किन्तु लम्बे समय तक उनकी योजनाएं न चल सकीं । फिर भी ब्रिटेन की समाजवादी परम्परा पर उनके विचारों का प्रभाव अमिट रहा । शिक्षा पर जोर, सहकारिता को बढ़ावा और जन सामान्य के जीवनस्तर की उन्नति के प्रति आशावादी दृष्टिकोण कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो बाद के समाजवादी आन्दोलनों को भी प्रभावित करते रहे । यही कारण है कि ओवेन के विचारों को समाजवादी परम्परा की नींव माना जाता है ।

अन्य विचारक

समाजवादी परम्परा में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में कुछ और महत्त्वपूर्ण विचारक हुए जिनमें लुईस आगस्ट ब्लैंक का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । ये उग्र-समाजवाद अथवा साम्यवाद के संस्थापक थे, जिसके अनुसार पूँजीवाद स्वयं अस्थायी व्यवस्था होने के कारण समाप्त हो जाएगा और उसके स्थान पर सहकारी संघों की उत्पत्ति होगी । इन्हें सिद्धान्त-स्थापना की अपेक्षा व्यवहारिक रूप देना अधिक पसन्द था, अतएव क्रान्तिकारी संगठन के लिए उन्हें अधिक जाना जाता है ।

एटीने कैबेट अपने ग्रन्थ वायेज एन इकारी ।1840। के माध्यम से फारियर की परम्परा को अग्रसर करते हैं । उनके अतिरिक्त लुईस ब्लैंक अपने ग्रन्थ एल आर्गेनाइजेशन डू ट्रैवेल ।1839। में राष्ट्रीय-कर्मशाला की स्थापना की कल्पना करते हैं । सरकार को अपने व्यय पर इन कर्मशालाओं की स्थापना करनी चाहिए और इन्हे सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र भी रखना चाहिए तथा मजदूर सदस्यों को ही इसके प्रबन्धक का चुनाव भी करना चाहिए । पेरिस मे ऐसे एक राष्ट्रीय-कर्मशाला की स्थापना भी की गई किन्तु मध्यम वर्ग के विरोध के कारण वह शीघ्र ही समाप्त हो गयी । उनकी श्रमिक-संगठन की योजना तथा कर्म करने के अधिकार की मांग उपजीव्यता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हीं के आधार पर आधुनिक युग के कल्याणकारी राज्य के विचार को स्वरूप प्रदान किया गया है ।

उपर्युक्त यूरोपियन समाजवादी नये ढंग के समुदायों की रचना अपने आदर्शों के अनुरूप करते रहे । इस प्रकार के समाजों में आदि-समाजवादी राबर्ट ओवेन तथा मार्क्सोत्तर फेबियन समाजवादियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । नये समुदाय की रचना करने की प्रवृत्ति दो प्रकार से उत्पन्न होती है । एक है निराशावादी विचारों का प्रभाव जिसके अनुसार यह विश्व अनेक बुराइयों का केन्द्र है, इसलिए इससे दूर रहने में ही कल्याण है । इस दृष्टिकोण से अनेक धार्मिक नेताओं ने अलग-अलग समुदायों की रचना की है और इसके द्वारा संसार की बुराइयों से स्वयं

को बचाने का प्रयास भी किया है । दूसरा वर्ग आशावादियों का है जो अपने आदर्शों के अनुरूप अलग से किसी समुदाय की रचना करते हैं और अपने ही कल्पना-लोक में विचरण करते हैं । ये आशावादी स्वयं को प्रकाशस्तम्भ समझते हैं, और मानते हैं कि उनकी ओर शेष लोग स्वयं ही आकर्षित होंगे।[24] इस प्रकार के विचारकों के उदाहरण फेबियन समाजवादी, राबर्ट ओवेन, फारियर आदि को माना जा सकता है ।

अराजकतावादी-परम्परा के संस्थापक पियरे जोसेफ प्रूधों ।1809-65। इस धारा के प्रमुख विचारकों में हैं । ये व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उसे आश्रय देने वाली संस्थाओं के विरोधी थे । इनके क्रान्तिकारी विचारों में परस्पर सहयोग, समता और न्याय की स्थापना के लिए आग्रह छिपा हैं । शोषण और धन-लिप्सा पर आधारित समाज-व्यवस्था का इन्होंने विरोध किया है । इनके विचारों से समाजवाद को काफी बल मिला । राज्य -विरोधी तथा उत्पादक-समुदायों की संघीय व्यवस्था के पोषक होने के कारण प्रूधों उस धारा से अलग हो गए जो राज्य के माध्यम से तथा सत्ता के केन्द्रीकरण के द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहती थी । [25]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि थोड़े ही काल के इतिहास में समाजवादी विचार मौलिकरूप से दो धाराओं में बंट गया । एक धारा राज्य-संस्था को आवश्यक मानती थी, और निरंकुश केन्द्रीय शक्ति के द्वारा ही समाजवाद को लाने की बात कहती थी । यह निरंकुश केन्द्रीय शक्ति भी मजदूरों की ही शक्ति है, किन्तु इसे निरंकुश रखा जाता है

और यह समाजवाद के हित में कुछ भी करने को स्वतंत्र मानी गई है । दूसरी धारा आराजकतावादी बनी, जो राज्य-संस्था को अनुपयोगी मानती है । राज्य की न तो आवश्यकता है और न ही वह समाजवाद के मौलिक - स्वरूप के साथ जीवित रह सकता है ।

इंग्लैण्ड मे समाजवादी विचारों का विकास उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ । इस युग के एक विख्यात अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो के मजदूरी सम्बन्धी आर्थिक विचारों की उग्र व्याख्या के माध्यम से अनेक ब्रिटिश लेखकों ने इस विचार धारा को आगे बढ़ाने में सहयोग किया । थोड़े ही समय बाद क्रिश्चियन समाजवाद का जन्म हुआ । इसके संस्थापकों में प्रमुख रूप से फ्रेडरीक डैनिसन मौरिस और चार्ल्स किंग्स्ले का नाम उल्लेख्य है, जिन्होंने उग्र आर्थिक-विचारों को राजनैतिक रूढ़िवाद से जोड़ने का प्रयास किया । यह संयोग समाजवादी विचारों के विकास में महत्वपूर्ण कदम था । 1830 और 1840 के उग्र चार्टिस्ट आन्दोलनों को केवल राजनैतिक आन्दोलन के रूप में जाना जाता है । वस्तुत: श्रमिक-वर्ग के द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन समाजवाद के निर्माण की एक सीढ़ी थी, क्योंकि इसके पीछे पूँजीवाद-विरोधी विचारों का सशक्त हाथ था ।

मार्क्स एवं एंगेल्स का समाजवाद

मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों के सिद्धान्त मूल्यवान थे, किन्तु कालान्तर के विकास को दृष्टि में रखते हुए ऐसा दिखाई

पड़ता है, कि ये समस्त लघु धाराएं मार्क्सवाद की महान समाजवादी धारा की सहायक मात्र थीं । इस महान धारा का उदय उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ । सामान्यत: यह माना जाता है कि मार्क्स ने जर्मन प्रत्ययवाद, ब्रिटिश आर्थिक राजनीति और फ्रांसीसी समाजवाद को एक साथ मिला दिया । यह सम्मिलन सर्व प्रथम कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो।1848। में प्र ट हुआ, जिसे उन्होंने फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ लिखा था । मार्क्स के आलोचक भी उनकी महानता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाते ।[26] यह उनके महान व्यक्तित्व एवं गहन विचारों की ही देन है ।

मार्क्स समाज के विकास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है । उसके अनुसार समाज परस्पर विरुद्ध शक्तियों का सन्तुलन है । संघर्ष ही सबका जन्मदाता है और सामाजिक-संघर्ष ऐतिहासिक प्रक्रिया का मूल है । अपनी आजीविका के लिए मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों से संघर्ष करता है । इस संघर्ष के दौरान लोग एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और इस सम्बन्ध का स्वरूप उनकी उत्पादन-पद्धति के अनुसार बदलता रहता है । अर्थात् जिस प्रकार के उत्पादनों के माध्यम से वे अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं,उसी प्रकार का उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी बनता है । जब मानव समाज में श्रम के विभाजन का प्रादुर्भाव होता है, तब परस्पर विरुद्ध वर्गों की उत्पत्ति होती है, जो ऐतिहासिक नाट्य में प्रधान भूमिका निभाते हैं ।[27] तात्पर्य यह है कि समाज के ऐतिहासक विकास में ये परस्पर विरुद्ध वर्ग महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनके परस्पर संघर्ष से ही विकास के अगले स्तर तक पहुंचना

संभव होता है । वर्ग-संघर्ष के विषय में मार्क्स के विचार उसके पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों से भिन्न हैं । यह केवल वैभव-सम्पन्न और निर्धन वर्ग के बीच का सीधा युद्ध ही नहीं है, अपितु इतिहास की विभिन्न स्थितियों के अनुसार इन संघर्षों में गुणात्मक अन्तर भी होता है । संघर्ष का स्वरूप इस तथ्य से निर्धारित होता है कि किस स्तर पर समाज में कौन से वर्ग उत्पन्न होते हैं । मार्क्स के अनुसार वर्ग को परिभाषित करते हुए आदम बी.उलाम कहते हैं कि यह ऐसे लोगों का समुदाय है जो उत्पादन प्रक्रिया में समान रूप से लगे हैं ।[28] इसका अर्थ यह है कि सामाजिक वर्ग में केवल समान आर्थिक स्थिति ही आवश्यक नहीं होती, अपितु वैचारिक स्थिति भी समान होनी आवश्यक है ।

मार्क्स समाज के सभी पक्षों को आर्थिक उत्पादन से जोड़ने का प्रयत्न करता है । संवैधानिक नियम, शैक्षिक नियम, धर्म, कला आदि समाज के अनेक अंग हैं और ये अंग परस्पर सम्बद्ध भी हैं । किन्तु इन सबका सम्बन्ध समाज के आर्थिक-उत्पादन से होता है । अन्ततोगत्वा यही उत्पादन -विधि इतिहास के विकास की निर्णायक होती है । इसी के द्वारा समाज का सांस्कृतिक ढांचा रचा जाता है । यहीं से समाजवाद दो रूपों में बंट जाता है । मार्क्स के पूर्ववर्ती समस्त विचारों को यूटोपियन समाजवाद तथा मार्क्स और उनके अनुयायियों के विचारों को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाने लगा । वह स्वयं इस बात पर जोर देता है, कि उसके ये समाजवादी विचार इतिहास के विकास के वैज्ञानिक परीक्षण पर आधारित

हैं, जबकि उसके पूर्ववर्तियों के विचार केवल इस आदर्श पर आधारित थे, कि सबका कल्याण होना चाहिए । मार्क्स का यह दावा है कि उसने अतीत को जानने का मार्ग और भविष्य को जानने का सूत्र एक ही सिद्धान्त में दे रखा है । यह सूत्र है " वर्ग-संघर्ष" । मार्क्स ने कहा है कि अब तक ‖ पूँजीवाद तक ‖ के समस्त विद्यमान समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है । [29] इसी के द्वारा विगत युगों में समाज का विकास हुआ है और भविष्य में भी होगा । वर्तमान युग का पूँजीपति और मजदूर-वर्ग के बीच का संघर्ष एक ऐसे समाज की रचना करेगा जिसमें सभी उत्पादक संयुक्त रूप से प्रयास करके समाजवादी समाज का निर्माण करेंगें । इस नये समाज में वर्ग-भेद नहीं होगा, और इसलिए वर्ग-संघर्ष भी समाप्त हो जाएगा । संघर्ष की समाप्ति पूर्णसाम्य में ही संभव है । अतः सर्वहारा वर्ग की इस विजय का अन्तिम लक्ष्य पूर्णसाम्य ही है ।

पूर्ण साम्य के आगे की स्थिति का ब्योरा मार्क्स नहीं देता । संघर्ष की समाप्ति का कारण विरुद्ध वर्गों की समाप्ति है, किन्तु यही संघर्ष सामाजिक विकास का कारण है । इस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर एक प्रश्न चिन्ह यह लग जाता है कि यदि भूत और भविष्य के विकास का एक मात्र साधन वर्ग-संघर्ष है, तो साम्यवाद के बाद इस विकास का क्या होगा ? क्या विकास रुक जायेगा अथवा पूर्ण साम्यावस्था भी परस्पर विरुद्ध वर्गों को जन्म देगी ? इन प्रश्नों का कोई भी स्पष्ट उत्तर मार्क्स के विचारों में नहीं मिलता ।

मार्क्स और ऐंजल्स ने सन् 1848 में जिस कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की रचना की, उसका प्रभाव बहुत दिनों तक न रह सका । यह मेनिफेस्टो यूरोप के श्रमिक-आन्दोलन को बल प्रदान करने के लिए बना था, किन्तु वह अपने उद्देश्य में असफल रहा । इसके बाद के लगभग 16 वर्षों तक मार्क्स एवं ऐंजेल्स श्रमिक आन्दोलनों से दूर रहे । सन् 1864 में महाद्वीपीय श्रमिकों तथा इन विचारों से प्रभावित कुछ बुद्धिजीवियों के प्रयास के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संगठन का निर्माण हुआ, जिसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के नाम से जाना जाता है । इस स्तर पर पहली बार समाजवाद क्षेत्रीयता और राष्ट्रीयता की सीमा को तोड़कर एक व्यापक विचारधारा के रूप में प्रकट हुआ किन्तु यह व्यापकता अत्यन्त अल्पकालिक थी, क्योंकि कालान्तर T इतिहास बताता है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक और बुद्धिजीवी गाढ़े समयों पर राष्ट्रीयता के स्तर पर उतर आते थे ।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय में सामान्य श्रमिक -संघ से लेकर अराजकतावादी विचार तक उभरे, किन्तु यह सम्पूर्ण आन्दोलन मार्क्स से प्रभावित रहा । वस्तुतः मार्क्स ने इसे अपने विचारों के प्रसार का माध्यम बना लिया । मार्क्स के विचार सर्वाधिक तीव्रगति से जर्मनी में फैले और थोड़े ही समय में वहाँ के उभरते हुए श्रमिक-आन्दोलन के मुख्य सिद्धान्त बन गये । इस प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के बाद का युग समाजवादी विचारों तथा आन्दोलनों में अधिकांशतः मार्क्स से ही प्रभावित रहा ।

जर्मनी में फर्दीनन्द लैसले (1825-1864) अत्यन्त प्रभावशाली समाजवादी विचारक हुआ । उसे जर्मन श्रमिक-आन्दोलन का अधिष्ठाता माना जाता है ।[30] मार्क्स के विचारों से वह इस अर्थ में सहमत था, कि उसे श्रमिक-वर्ग का स्वतंत्र संगठन बनाना स्वीकार था । किन्तु दोनों विचारकों में अनेक अन्तर थे । लैसले के अनुसार मजदूरों के सहकारी संघों की स्थापना के लिए पर्याप्त धन प्रदान करना तथा उन्हें पूँजीपतियों के दबाव से मुक्त रखना सरकार का दायित्व है । मार्क्स पूँजीवादी सरकार के सामने ऐसे किसी भी प्रस्ताव का विरोधी था । इस वैचारिक भेद को लेकर मार्क्स जर्मनी में लैसले का विरोध करने के उद्देश्य से अपने अनुयायियों को संगठित करने लगा । 1869 में सोशल डेमाक्रेटिक पार्टी की स्थापना हुई । मार्क्स तथा लैसले के अनुयायियों के बीच यह अन्तर 1875 तक बना रहा । इसी वर्ष कुछ समझौतों के आधार पर दोनों पार्टियाँ संयुक्त हुईं । मार्क्स आन्तरिक रूप से इस समझौते का विरोधी था, यद्यपि बाहर से वह इसे स्वीकार किये था ।

तत्कालीन जर्मन चान्सलर आटोवान बिस्मार्क के विरोध के बावजूद यह सोशल डेमाक्रेटिक आन्दोलन बड़ी ही तीव्र गति से विकसित हुआ । बिस्मार्क ने इसे दबाने के लिये समाजवाद विरोधी कानून का निर्माण किया और साथ ही इसकी लोकप्रियता घटाने के लिये समाज-सुधार के कार्यक्रम भी संचालित किये । 1891 के अर्फर्ट कार्यक्रम के कारण लैसले के विचारों को पूर्णरूपेण त्याग दिया गया । राज्य द्वारा सहायता प्राप्त संस्थाओं के निर्माण की बात छोड़ दी गयी । मार्क्स के विचार और

गहरी जड़ पकड़ लिये और जर्मनी में भी वर्गों के शासन के साथ ही वर्गों को भी समाप्त करने की माँग बड़ी तेजी से उठी ।[31] यह मार्क्स के विचारों की बहुत बड़ी विजय थी । वर्गहीन समाज की माँग समाजवाद की माँग बनती जा रही थी । इस बात के भी लक्षण स्पष्ट होने लगे थे कि समाजवाद की परिणीत साम्यवाद के रूप में होगी । कालान्तर का इतिहास इसी परिणति की विभिन्न स्थितियों का चित्र प्रस्तुत करता है ।

परिवर्तन और विकास की अगली स्थिति संशोधनवाद के रूप में उभरी । इसका प्रमुख कारण स्वयं मार्क्स के विचारों में अन्तर्निहित विकास था, जो क्रमशः विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा था । यही कारण था कि उसके विभिन्न शिष्य अलग-अलग मान्यताओं के पक्ष में उसे उद्धृत करने लगे थे । उदाहरण के तौर पर यह देखा जा सकता है कि उन्नीसवीं शती के चतुर्थ दशक के अन्त तथा पंचम दशक के प्रारम्भ में मार्क्स यह मानता था कि हिंसात्मक क्रान्तिकारी विधि से ही बुर्जुआ शासन हटाया जा सकता है और "सर्वहारा का अधिनायकत्व" भी तभी स्थापित हो सकता है । किन्तु कालान्तर में उसके विचार बदले हुए दिखाई पड़ते हैं । इंगलैण्ड में द्वितीय रिफार्म बिल (1867) के आगमन के बाद मार्क्स अपने लेखों में समाजवाद में एक शान्तिपूर्ण विकास की संभावना की ओर संकेत करता है । उसने यह भी कहा है कि ऐसा विकास संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कुछ अन्य देशों में भी संभव है ।[32]

मार्क्सोत्तर समाजवाद -

जर्मन सोशल डेमोक्रेट विचारक अब भी यद्यपि मार्क्स की उस क्रान्तिकारी भाषा को भूले नहीं थे, किन्तु व्यवहारतः वे दिनोदिन संसदीय कार्यप्रणाली में विलीन होते जा रहे थे । इस युग का प्रमुख विचारक कार्ल काट्स्की [1854-1938] था, जिसकी मान्यता को "आर्थिक-नियतिवाद" की संज्ञा दी जाती है । इसके अनुसार आर्थिक शक्तियों का अपरिहार्य विकास निश्चित रूप से समाजवाद के उद्भव की पृष्ठभूमि है । इस अर्थ में वह समाजवाद के उद्भव को सहज और अवश्यम्भावी मानता है ।

एडेवर्ड बर्नस्टीन [1850-1932] इस युग का दूसरा प्रमुख विचारक था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "DIE BORAUSSETZUNGEN DES SOZIALISMUS UND DIE AUFGABEN DER SOZIALDEMOKRATIE" (1899) [इस ग्रन्थ का अनुवाद 1909 ई० में आँग्ल - भाषा में इवोल्यूशनरी सोशलिज्म नाम से प्रकाशित हुआ] में तत्कालीन परम्परावादिता को ललकारा :[33] और यह प्रतिपादित किया कि जर्मनी में रूढ़िगत मान्यता वाली रक्तक्रान्ति न तो संभव है, और न ही आवश्यक, और इसलिए वह सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को यह सुझाव देता है कि वह उन बातों को सिद्धान्ततः भी स्वीकार कर ले, जिन्हें वह व्यवहारतः मानती है । जिस विकासवादी समाजवाद की कल्पना मार्क्स के लेखों में इंग्लैण्ड के संदर्भ में दिखाई पड़ी, उसे बर्नस्टीन जर्मनी के संदर्भ में भी उचित मानता है भले ही उन देशों की राजनैतिक परिस्थितियों में महान अन्तर रहा हो इस प्रकार बर्नस्टीन की मान्यता में यह विकासवादी [illegible] राजनैतिक

परिस्थिति में संभव है । उसके इसी सिद्धान्त को संशोधनवाद की संज्ञा दी गयी है । काट्स्की के परम्परावाद और बर्नस्टीन के संशोधनवाद के इस विरोध के फलस्वरूप जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को गहरा धक्का लगा । यद्यपि बर्नस्टीन की पार्टी 1903 में पराजित हुई, फिर भी संशोधनवाद के संसदीय और श्रमिक-संघ के नेता प्रभावशाली बने रहे । प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने के बाद दोनों ही वर्गों के नेता सरकार के साथ हो गये और इसके साथ ही पार्टी की क्रान्तिकारी भूमिका व्यवहारत: समाप्त हो गयी ।

यूरोप के अन्य भागों में भी समाजवादी विचारों का प्रसार जारी था । फ्रांस में जिसे "समाजवाद की जन्म भूमि" कहा गया है, मार्क्सवाद का प्रभाव न्यूनतम रहा । ब्लैंक और प्रूधों के विचारों की जड़ फ्रांसीसी समाज में अत्यन्त गहरी थी । कालान्तर के इतिहास में भी फ्रांस का समाजवाद इन्हीं के अनुयायियों से प्रभावित रहा । यह बात 1871 के पेरिस कम्यून में स्थापित हो चुकी थी किन्तु इसके बाद ही यहाँ के समाजवादी विचारक दो वर्गों में विभाजित हो गये । जूल्स गेस्डे ने 1875-76 में मार्क्सवादी परम्परावादिता का प्रचलन किया, यद्यपि अधिकांश समाजवादी ब्लैंक और प्रूधों से प्रभावित थे । इसके साथ ही उन पर 18वीं शती की क्रान्तिकारी परम्परा का भी प्रभाव था । यद्यपि 1905 में ये समस्त दल एकत्रित हो गये, फिर भी उनमें क्रान्तिकारी और सुधारवादी दो वर्ग बने ही रहे । इस युग का महान विचारक जीन जौरस था । प्रथम

विश्व युद्ध के पूर्व ही उनकी हत्या हो गयी और इसके बाद फ्रांस के समाजवादी युद्ध में राष्ट्र के साथ रहे । यूरोप के अन्य देशों, प्रमुख रूप से डेनमार्क, स्वीडन और नार्वे में क्रमश: डेनिश सोशल डेमाक्रेटिक पार्टी ॥1870॥ स्वेडिस सोशलिस्ट मूवमेंट ॥1899॥ और नार्वेजियन लेबर पार्टी ॥1887॥ की स्थापना हुई । ये सभी दल मार्क्स के विचारों से प्रभावित थे । 1888 में आस्ट्रियन सोशलिस्ट डेमाक्रेटिक पार्टी स्थापित हुई, जो 1908 तक इतनी सशक्त हो गयी कि उस वर्ष के संसदीय चुनाव में एक तिहाई मत प्राप्त करनेमें सफल हुई, और जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के बाद द्वितीय स्थान की सशक्त पार्टी बनी । इसके अतिरिक्त बेल्जियन लेबर पार्टी ॥1885॥ और डच सोशलिस्ट डेमाक्रेटिक वर्कर्सपार्टी ॥1894॥ भी उल्लेखनीय है ।

ये महाद्वीपीय समाजवादी दल पारस्परिक विरोधों के कारण विखण्डित रहे । इनमें कभी भी एक मत होकर संघर्ष करने की स्थिति नहीं बन पायी । इन पर मार्क्स की परम्परावादी नीति का प्रभाव अन्त तक बना रहा । समाजवाद के जिस अन्तर्राष्ट्रीय रूप को आदर्श माना गया था, उसकी प्राप्ति अभी बहुत दूर थी । प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ में इस प्रकार के विचार उभर रहे थे, किन्तु विश्व युद्ध ने यह दिखा दिया कि ये विचार राष्ट्रीयता की सीमा का उल्लंघन करने के लिये पर्याप्त बलशाली नहीं थे । प्रथम विश्वयुद्ध में ये अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी अपने-अपने देश के शासन के साथ हो गये । इससे समाजवादी विचारों के विकास में अत्यन्त बाधा पहुंची ।

समाजवादी विचारकों की एक अन्य धारा आराजकतावाद के रूप में निकली । यह प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही उन विचारकों में थी, जो राज्य से अलग रह र श्रमिक-संगठनों ी बात सोचते थे । कालान्तर में यह प्रवृत्ति मिखाइल बाकुनिन े नेतृत्व में एक राजनैति सिद्धान्त े रूप में स्थापित हुई । बाकुनिन रूस का अत्यन्त प्रभावशाली विचारक था, जिसके विचारों का मूल स्रोत स्वतन्त्रता की उत्कृष्ट भावना थी । अराजकतावादी विचार-धारा का मुख्य प्रभाव क्षेत्र स्पेन रहा । प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय में मार्क्स और बाकुनिन के मतभेद के फलस्वरूप अराजकतावादी धारा काफी कमजोर हो गयी । प्रथम विश्वयुद्ध े बाद ही स्पेन में समाजवादएक राजनैतिक शक्ति के रूप में उभर सका । इसका प्रमुख कारणअराजकतावाद और मार्क्स के परम्परावाद का परस्पर विरोध था । यही स्थिति इटली के समाजवाद की भी रही, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध े बा न तक इटैलियन सोशलिस्ट पार्टी मार्क्सवादी संगठन का सुदृढ़ गढ़ बन चुकी थी ।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के फलस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप में समाजवाद की एक लहर दौड़ गयी । किन्तु इस लहर को एक केन्द्र से नियंत्रित करना सम्भव न था क्योंकि विभिन्न देशों में विकसित होने वाले समाजवादी आन्दोलन स्वरूप और कार्य-पद्धति की दृष्टि से राष्ट्रीय अधिक थे, और अन्तर्राष्ट्रीय कम । इस प्रकार समाजवाद कोजो विकास हुआ वह मुख्य रूप से राष्ट्रीय था । उसके स्वरूप को देश विशेष की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और

आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावित कर रही थीं । ऐसी स्थिति में सन् 1876 में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय को समाप्त कर दिया गया । इस युग के समाजवादी विकास की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह क्रमशः सुधारवाद की ओर झुकता जा रहा था । मार्क्स द्वारा स्थापित क्रान्तिकारी-विधि केवल सैद्धान्तिक मान्यता बनकर रह गयी थी । किसी स्थापित राज्यसत्ता को उखाड़ फेंकने के बजाय उसमें सुधार करना समाजवादियों का उद्देश्य बन गया था । 20वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों तक यूरोप के अधिकांश देशों में समाजवाद पार्लियामेंट की शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका था ।[34] पार्लियामेंट की इस शक्ति का कार्य समाजवादी उद्देश्यों की ओर समाज को अग्रसर करना था । इस युग में केवल कुछ वामपंथी ही मार्क्स के परम्परागत क्रान्तिकारी सिद्धान्त को स्वीकार करते थे ।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय पूर्णतः एकीकृत और शुद्ध संगठन होने का दावा करता था । अपने इस दावे में वह असफल रहा । सन् 1889 में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना हुई, जो स्वरूपतः प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय से भिन्न था । यह समाजवादी आन्दोलनों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा मात्र थी । जर्मन समाजवादियों का प्रभुत्व इस सभा पर स्थापित हो गया था । वे किसी भी प्रकार के सुधार और समझौते के विरोधी थे । परम्परागत मार्क्सवादी प्रणाली पुनः बलवती हो गयी । इस पर जर्मन समाजवादियों का प्रभाव प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने तक बना रहा । किन्तु विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद राष्ट्रीय भावना अन्तर्राष्ट्रीय भावना से प्रबलतर सिद्ध हुई ।

इस सभा के सभी घटक अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों के साथ हो गये जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ की एकता समाप्त हो गयी ।

ब्रिटेन की समाजवादी परम्परा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान फेबियन समाजवादियों का है । आदिम बी.उलाम ने लिखा है कि मूलत: यह इंगलिश सोशलिज्म से उत्पन्न हुआ है और यह जानकारी देता है, कि समाजवाद प्रजातंत्र का संशोधित रूप और ... तार्किक निष्कर्ष है ।[35] फेबियन समाजवाद मार्क्सवाद से भिन्न विचारों का प्रतिपादक है, और इसी रूप में वह तत्कालीन ब्रिटिश समाज में प्रचलित हुआ । जी0बी0शा ने स्वयं यह लिखा है कि लैसले के सिद्धान्तों का विकासकरके उन्होंने फेबियन समाजवाद का निर्माण किया है ।[36]उनका यह कथन सर्वाधिक प्रामाणिक है, क्योंकि वे स्वयं फेबियन समाजवाद के विचारकों में प्रमुख थे । फेबियन समाज की रचना 1880 ई0 में हुई । इसके संस्थापकों में कुछ नवजवान उग्र बुद्धिवादी थे, जिनमें सिडनी, बियेट्रिश वेग, ग्राहम वैलेश और जी0बी0शा के नाम उल्लेखनीय हैं । ये विकासवादी सकाजवाद में विश्वास करते थे । इनकी यह मान्यता थी कि समाजवाद का आगमन क्रमश: होता है और इसी कारण इसे प्रयास करने हेतु किसी भी भारी संगठन का निर्माण उन्होंने कभी नहीं किया । एक छोटे से समूह के साथ शासकों को समाज-परिर्वतन के लिए सलाह देना इनकी समाजवादी विधि थी । इनका सम्पूर्ण साहित्य फेबियन निबन्ध के नाम से सुरक्षित है, जिसका प्रारम्भ 1889 ई0 में हुआ था । इनके सिद्धान्त मार्क्सवाद के साथ-साथ शेष महाद्वीप की समाजवादी परम्पराओं से भी अलग थे । इस सिद्धान्त का एकमात्र उद्देश्य सुधार करना था, किन्तु

क्रम भंग न होने पाये और साथ ही समाज में कोई ऐसा आमूल परिवर्तन भी न हो, जिससे समाज के मूलभूत सांस्कृतिक-तत्व समाप्त हो जाँय ।

समाजवाद का एक रूप श्रमिक संघवाद भी उद्भूत हुआ । इस विचार धारा के अनुसार सम्पूर्ण समाज पूँजीवाद द्वारा निर्मित एक कार्यशाला है ।[37] इसीलिये ये विचारक उग्र-आन्दोलन के पक्षधर थे । इन्होंने संसदीय प्रणाली और राजनैतिक गतिविधियों के माध्यम से समाजवाद की स्थापना को असम्भव जान लिया था । श्रमिक-संघ वादियों की यह मान्यता है कि समाज एक कार्यशाला है जिसके अधिकार और कर्तव्य अन्य औद्योगिक संस्थानों की ही तरह निर्धारित होते हैं । वर्तमान समाज का हर वर्ग इस कार्यशाला से जुड़ा है । 1871 ई0 में इसकी स्थापना हुई और 1892 में एक संघ का निर्माण किया गया, जिसे फेडरेशन डेस बोर्सेस डु ट्रैवेल संज्ञा दी गई । इसके नेता फर्नन्द फेलाटियर थे । कालान्तर में सन् 1902 में वृहत्तर संघ, कान्फेडरेशन जनरल डु ट्रैवेल का निर्माण हुआ ।

श्रमिक -संघवाद ने समकालीन बुद्धिजीवियों को भी आकृष्ट किया, जिन्होंने इसे दार्शनिक आधार प्रदान किया । इनमें प्रमुख रूप से उल्लेख्य जार्ज सोरेल हैं । सोरेल की पुस्तक " रेफ्लेक्सन सुर ला वायलेन्स" [यह पुस्तक 1908 ई0 में प्रकाशित हुई । 1916 ई0 में "रेफ्लेशन ऑन वायलेन्स " नाम से इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ] अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई ।[38] यद्यपि सोरेल स्वयं तो अपनी मान्यताओं को कालान्तर में बदल दिए, किन्तु उनकी पुस्तक क्रान्तिकारियों का मार्गदर्शन करती रहीं ।

श्रमिक-संघवाद की यह मान्यता थी कि समस्त मानव समूहों में श्रमिक संघ सर्वाधिक मौलिक और स्थायी है । इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं में उसकी आर्थिक आवश्यकता सर्वप्रमुख हैं । श्रमिक-संघ का सदस्य इसी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति को आधार बनाकर संघ में प्रवेश करता है और उसके संबंध स्थायी और दृढ़ होते हैं । शेष संबंध, चाहे वे राजनैतिक हों या धार्मिक, अपेक्षाकृत कम स्थायी और दृढ़ होते हैं । श्रमिकों के लिये परम्परागत नैतिकता और उसके नियम कोई अर्थ नहीं रखते । उनकी समस्त निष्ठा श्रमिक संघ के प्रति ही होती है ।

श्रमिक संघ का इस रूप में संगठन वर्ग-चेतना को जन्म देता है । वर्ग चेतना से वर्ग-संघर्ष उत्पन्न होता है । इस संघर्ष के कई रूप हैं यथा हड़ताल, काम रोको, बहिष्कार आदि । इन समस्त रूपों में संघर्ष की बात निहित है । इससे यह सिद्ध होता है कि सीधी कार्यवाही श्रमिक-संघवाद का अभिमत है । इसी कारण इसे " रक्त एवं लौह का समाजवाद" की संज्ञा दी गई है ।[39] हिंसा को इस सिद्धान्त में अनिवार्य माना गया है । सोरेल ने हिंसा को घृणा एवं प्रतिशोध के बिना भी जारी रखने की सलाह दी है । इनके समाजवाद की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि ये उसे अप्रजातांत्रिक मानते हैं । जन-सामान्य संघर्ष में बहुत प्रभावकारी नहीं होते । उनमें संघर्ष की शक्ति भी कम होती है । इसलिये संघर्ष के लिये शक्ति सम्पन्न अल्प-संख्यक भी पर्याप्त हैं । संघर्ष का उद्देश्य अव्यवस्था की समाप्ति, अन्याय का विरोध और सही प्रगति की दिशा होना चाहिए ।

इस विचारधारा की आलोचनाएं अत्यन्त प्रबल हैं । वर्ग-संघर्ष और रक्त-क्रान्ति के लिये ये तर्क और विचारशीलता तक का परित्याग कर देते हैं । जे0ओ0गैसेट महोदय अपने ग्रन्थ " द रिवोल्ट आफ द मासेज" [40] में लिखते हैं कि श्रमिक-संघ वाद के प्रभाव से यूरोप में एक ऐसे मानव का अभ्युदय हुआ जो न तो अपनी बात के पक्ष में तर्क देना चाहता है और न ही वह अपने को सत्य सिद्ध करना चाहता है, अपितु वह अपनी बात को मनवाने के लिए कटिबद्ध हैं । अतार्किक होने का अधिकार उन्होंने ले लिया है । ये पंक्तियाँ श्रमिक संघ वाद की उग्र क्रान्तिकारी प्रवृत्ति की आलोचना में कही गयी हैं । संघर्ष अच्छे उद्देश्यों के लिये शुभ है, किन्तु इसे निरपेक्ष रूप से शुभ नहीं कहा जा सकता । श्रमिक संघ वाद में इसे पूर्णतः शुभ मान लिया गया है ।

श्रेणी समाजवाद की उत्पत्ति ब्रिटेन में हुई । समाजवाद की यह धारा प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व उत्पन्न हुई और पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के अधिकांश समान उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ी । श्रमिक-संघ वाद से इन्होंने राज्य के प्रति अविश्वास तथा सर्वहारा (श्रमिक) वर्ग के नियंत्रण का सिद्धान्त लिया । इनकी प्रमुख विशेषता यह थी कि ये सामाजिक संरचना को लेकर मध्य युगीन आदर्शों के हिमायती थे । मध्ययुग में समाज छोटी-छोटी श्रेणियों में बँटा था । प्रत्येक श्रेणी का अपना स्वतंत्र व्यवसाय था । अपने व्यवसाय के लिये श्रमिक स्वयं जिम्मेदार था । वह इसकी व्यवस्था करने का उत्तरदायी और लाभ पाने का अधिकारी था । श्रेणी समाजवादी इस स्थिति को आदर्श मानते हैं ।

समाजवादी विचारक स्व0 अशोक मेहता ने कहा है कि इस आन्दोलन के पश्चात् भी मनुष्य की वही स्थिति रह गयी थी, जो आन्दोलन के पूर्व थी । उन्होंने कहा है कि मर्ज और इलाज दोनों ही में मनुष्य स्वयं खो गया है,[41] फिर ऐसे इलाज से लाभ ही क्या हुआ । सम्पत्ति की खोज और लाभ के लोभ में मनुष्य वस्तुओं के अधीन हो गया । उपकरणों ने उसे अपना उपकरण बना लिया । यह स्थिति विकास की सही दिशा को नहीं प्रदर्शित करती ।

श्रेणी समाजवादियों ने समाज की पुर्नरचना कार्यों के आधार पर करने की कोशिश की । इसमें विशिष्ट व्यवसाय वाले सदस्य के लिये समाज में विशिष्ट स्थान देने की बात कही गई । किन्तु यह तो समाज को प्रथमतः उत्पादनकर्ता और उपभोक्ता के दो वर्गों में और पुनः उत्पादकों को भी कार्य के आधार पर अनेक वर्गों में बाँटने वाला सिद्धान्त है । इसीलिए इस पर अनेक ओर से अनेक प्रकार के आक्षेप लगाए गए । रस्किन इसके विरोधी थे, क्योंकि उनके अनुसार इसमें सौन्दर्य की हत्या एकता के नाम पर और कार्य करने की प्रवृत्ति की समाप्ति मुनाफाखोरी के नाम पर होती है ।[42] इसलिये इसे उस परम्परा की अगली कड़ी माना गया, जिससे परेशान होकर समाजवाद कानारा उठाया गया था ।

भिन्न -भिन्न व्यवसायों में लगे समाज के वर्गों के बीच पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता । एक व्यक्ति

जो खाधान्न के उत्पादन से जुड़ा है, वस्त्रों के उत्पादन में लगे दूसरे व्यक्ति के साथ कोई सहानुभूति नहीं रखता, अपितु एक विरोध की स्थिति रहती है, क्योंकि अपनी आवश्यकता के अनुरूप भी अगर एक वर्ग का उत्पादक अपने उत्पादनों के मूल्य में वृद्धि चाहता है और करता है, तब दूसरे वर्ग के उत्पादकों पर इस मूल्य वृद्धि का प्रभाव अवश्य पड़ता है । इस प्रकार अनेक वर्गों में बंटे समाज के अंग परस्पर द्वेष से ही परेशान रहते हैं, तब समाज की सर्वांगीण उन्नति के विषय में तो सोचना ही निरर्थक है । ऐसी स्थिति में श्रेणी समाजवाद समस्या को सुलझाने के बजाय और अधिक उलझा देता है और अशोक मेहता का वह कथन सत्य उतरता है कि यह ऐसी दवा है, जो मर्ज से भिन्न नहीं है । दोनों ही स्थितियों में मनुष्य परेशान ही रह जाता है ।

श्रेणी समाजवाद के इन विचारों को एमाइल दुरखीम [1858-1917] जैसे समाज विचारकों से अत्यधिक समर्थन मिला । दुरखीम भी व्यवसाय के आधार पर बने संगठनों के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर हैं ।[43] इनकी मान्यता यह है कि समाज के द्रुत विकास में विकेन्द्रीकरण अत्यधिक सहायक होता है । एकरसता से समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है । मनुष्य के अन्दर अपने व्यवसाय के प्रति लगन के साथ-साथ इस बात की निश्चिन्तता भी होनी चाहिए कि उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के अन्य वर्ग लगे हैं । किन्तु इसमें केवल अपने व्यवसाय के प्रति सचेष्टता और अन्य व्यवसायों के प्रति उपेक्षा का होना सामाजिक भावना के विरुद्ध है । अतः विकेन्द्रीकरण का अर्थ " पूर्णरूपेण निरपेक्ष वर्गों में विभाजित" नहीं

होना चाहिए । पुनश्च इसका उद्देश्य समाज की प्रगति है इसलिए जैसे ही यह सामाजिक प्रगति में बाधक दिखाई पड़े और अपने उद्देश्य में असफल हो, वैसे ही इसमें आवश्यक संशोधन और परिवर्तन करने की भी स्वतंत्रता होनी चाहिए । समाज की व्यवस्था और प्रगति सर्वोच्च है, केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीकरण तो साधन मात्र हैं । विकेन्द्रीकरण का एक प्रकट लाभ यह है कि इसमें शक्ति का, चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, दुरुपयोग नहीं होता । केन्द्रीकरण से निश्चित ही आर्थिक प्रगति की गति तीव्र होती है, किन्तु इस व्यवस्था में प्रगति के नाम पर अनेक आवश्यक और उपयोगी मूल्यों का हनन होता है । श्रेणी समाजवाद का विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का पात्र बना । इसका कारण यह है कि इस युग में स्थायित्व और व्यवस्था की अपेक्षा प्रगति का अधिक महत्त्व है । यही कारण है कि समाजवाद की जो प्रबलतम धारा आगे बढ़ी और वर्तमान युग की समाजवादी परम्परा में जिसका वर्चस्व स्थापित है, वह केन्द्रीकरण में अधिक विश्वास रखती है ।

समाजवाद यूरोप में जितना प्रभावशाली रहा, उतना अमेरिका में नहीं । यहाँ समाजवाद आरम्भ में दासता से मुक्ति तथा कृषि सुधार आन्दोलनों के रूप में रहा । कालान्तर में अत्यन्त सक्रिय पत्रकार डेविड डी लियोन के इस धारा में आ जाने के बाद इसका सम्बन्ध मार्क्सवादी धारा से हो गया । डी लियोन ने मार्क्स के सिद्धान्तवादी विचारों को श्रमिकवाद तथा फ्रांसीसी विचारधारा श्रमिक संघवाद के साथ जोड़कर

एक नया रूप तैयार किया । इस नये दल के साथ उन्होंने पूँजी का विरोध, मतदान-पेटिका ।चुनाव। से लेकरऔद्योगिक- संघर्ष तक, करने का निश्चय किया ।[44]इस संघर्ष में सोशलिस्ट पार्टी ने राष्ट्रपति के चुनाव में अपना प्रतिनिधि खड़ा करके सम्पूर्ण राष्ट्रीय मत का लगभग 6% प्राप्त किया ।

किन्तु उस समाज में सोशलिस्ट लेबर पार्टी ।पार्टी का आरम्भिक नाम। एक सम्प्रदाय से अधिक कुछ न बन सकी । सोशलिस्ट पार्टी । कालान्तर में दिया गया नाम। यूजीन डेब्स के नेतृत्व में जन-आन्दोलन का रूप लेने में सफल हुई । यह अभी भी न तो केन्द्रित हो सकी और न ही इसमें राजनैतिक एकरसता रही । इसके अन्तर्गत सुधारवादी, क्रान्तिवादी, कट्टर मार्क्सवादी तथा अन्य प्रकार के लोग सम्मिलित थे, जिनमें अनेक स्थलों पर पारस्परिक विरोध के बावजूद पार्टी के प्रति एकता और निष्ठा थी । इस पार्टी ने सैद्धान्तिक रूप में कुछ भी नया नहीं जोड़ा, किन्तु व्यावहारिक रूप में अमेरिका में समाजवाद को प्रभावशाली आवाज अवश्य उठायी । वहाँ अन्तिम उल्लेख्य विचारक नार्मन टामस थे । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका से यह धारा समाप्त हो गयी ।

उन्नीसवीं शती में रूस में पापुलिस्ट विचारधारा प्रबलतम थी । इसके प्रमुख नेता अलक्जेण्डर हर्जेन थे । हर्जेन महोदय ने रूस में समाजवाद का भविष्य कृषकों के समुदाय में देखा । उनका यह विश्वास था कि कृषक ही समाजवादी समाज की रचना में सहायक हो सकते हैं । कृषि को उन्होंने एक

आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया और उनके अनेक अनुयायियों ने तत्कालीन विद्यार्थियों एवं बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित किया तथा जन-सामान्य के बीच क्रान्ति के बीजारोपण के लिए स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को शिक्षित करने के लिए प्रेरित भी किया ।

उन्नीसवीं शती के छठें और सातवें दशकों में उग्र पापुलिस्ट कार्यकर्ताओं का विश्वास कृषक-आन्दोलन से समाप्त हो गया, और वे आतंकवाद का आश्रय लेने लगे । इस आतंकवादी आन्दोलन का चरमोत्कर्ष अलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या ।1881। में हुआ । बाकुनिन के प्रभाव से रूस में बौद्धिक और आतंकवादी तत्वों को समाजवाद की धारा में स्थान मिला, जिनका उद्देश्य था राज्य की समस्त व्यवस्थाओं, परम्पराओं और वर्गों को समाप्त करना । यह एक विचित्र बात है कि रूस में बाकुनिन जिस आतंकवादी धारा को प्रश्रय देता है, उसमें बुद्धिजीवियों की प्रधानता को स्वीकार किया गया, जबकि यूरोप में वह कुशल कारीगरों और कृषकों का समर्थक होने के कारण प्रूधों के उत्तराधिकारी के रूप में जाना जाता था ।[45] यह बाकुनिन के लिए देश-काल की अनभिज्ञता का प्रमाण है । जहाँ उसे कृषकों और कारीगरों के द्वारा समाजवाद की स्थापना पर बल देना चाहिए था, वहाँ वह भूल कर बैठा । शायद रूस की क्रान्ति का द्रष्टा होने का सौभाग्य उसके हिस्से में था ही नहीं ।

पापुलिज्म की इस महान धारा में ही एक वर्ग ऐसा था, जो आतंकवाद का विरोधी था । इस वर्ग के लोगों की मान्यता यह थी कि समाजवाद

विकास के फलस्वरूप ही आ सकता है । अतएव ये शान्तिपूर्ण प्रचार और जन- जागरण का कार्यक्रम संचालित किए । यह कार्यक्रम पहले से चल रहे आतंकवादी क्रिया-कलापों के साथ-साथ चलता रहा । ये क्रमिक-विकासवादी जन-समूह में अपने कार्यक्रमों का प्रचार करते रहे और इसका प्रभाव समाज पर अच्छा पड़ा । किन्तु विकासवाद यूरोप में असफल हो चुका था और रूस में भी इससे बहुत आशा नहीं की जा सकती थी ।

रूस में मार्क्सवाद का सूत्रपात करने का श्रेय जार्ज प्लेखानोव को है, जो आरम्भ में तो पूर्वोक्त पापुलिस्ट परम्परा के सदस्य थे किन्तु कालान्तर में मार्क्सवाद के अनुयायी समर्थक और पापुलिस्ट धारा के कटु आलोचक बने । इन्होंने रूस की क्रान्ति का जो रूप सोचा वह यूरोपीय था । औद्योगिक प्रगति के कारण रूस में एक पूँजीवादी क्रान्ति को उन्होंने पहले ही भाँप लिया और समाजवादी-क्रान्ति के लिए इसे सुन्दर अवसर भी समझा । उनका यह विचार जर्मनी के समाजवाद से प्रभावित था ।

समाजवाद को रूस की भूमि के लिए उपयुक्ततम रूप देने वाले विचारक का नाम वी0आई0 लेनिन (1870-1924) था, जिसने अपने लेख "ह्वाट इज टू बी डन ?" में और अधिक जुझारू आन्दोलन का समर्थन किया । मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक धारा पश्चिमी यूरोप में समाप्त हो चली थी । उस धारा को नयी तेजी देने का कार्य लेनिन ने सोवियत भूमि पर किया ।[46]

उनकी यह मान्यता थी कि समाजवाद की स्थापना तभी संभव है, जब व्यावसायिक, क्रान्तिकारी, मजदूर, जनता तथा किसानों को क्रान्ति के लिए संचालित कर सकें एवं शक्ति सम्पन्न बना सकें । लेनिन के इन विचारों को नवीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मजदूरों और किसानों को अलग-अलग क्रान्ति के मुख्य कर्णधार के रूप में उसके पूर्ववर्ती विचारकों ने भी माना था, किन्तु उसकी नवीनता इस बात में अवश्य है कि उसने दो भिन्न धाराओं को संयुक्त कर क्रान्ति के लिये अग्रसर किया । क्रान्तिद्रष्टा का यही प्रमुख गुण है । युग की माँग को सही ढंग से समझना और तदनुकूल व्यवस्था का निर्माण करना ।

रूसी सोशल डेमोक्रेटिक आन्दोलन के दो भाग हो गए । जो लेनिन के विचारों से असहमत थे, उनके नेता के रूप में एल0 मार्टोव का नाम आता है । आरम्भ में इनकी असहमति गौण थी, इस कारण संयुक्त बैठकें होती थीं, किन्तु 1912 में दोनों वर्गों का अन्तिम रूप से अलगाव हो गया । अनेक नेताओं ने दल-बदल किया । प्लेखानोव प्रारम्भ में लेनिन के साथ थे, किन्तु कालान्तर में विरुद्ध हो गए । लेनिन-विरोधी दल मेन्शेविक्स के नाम से जाने गए जिसमें शिक्षित कुशल कारीगरों के साथ-साथ यहूदी बुद्धिजीवी भी सम्मिलित थे । ये प्रमुखत: नगरों में प्रभावशाली रहे । लेनिन का दल बोल्शेविक नाम से प्रमुखत: पिछड़े मजदूरों और कृषकों का दल था ।

फरवरी 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति ने आतंकवादी शासन को समाप्त करके उदारतावादी शासन की स्थापना की । यह उदारतावादी शासन भी

पूर्णरूपेण समाजवादी न था । इन्होंने अपने संगठन को क्रमशः नगरीय जनता में प्रसारित किया । लेनिन ने इसके पश्चात् अपनी सम्पूर्ण कार्य-पद्धति में परिवर्तन कर दिया और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता को हस्तगत करना तात्कालिक उद्देश्य के रूप में सामने रखा । देश की दशा अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी । युद्ध से सब कुछ अस्त-व्यस्त हो चुका था । अतः इस आन्दोलन की सफलता के बाद भी राज्य -संचालन की अक्षमता से 1905 जैसी असफलता की संभावना अब भी थी । लेनिन का सुप्रसिद्ध नारा" समस्त शक्ति सोवियत के हाथ" अत्यन्त प्रभावशाली था और इसे बड़ी निष्ठा के साथ लोगों ने अपनाया । अक्टूबर 1917 में ट्राटस्की ने वैकल्पिक सरकारों को समाप्त करके क्रान्तिकारी शासन की स्थापनाकी, जिसका प्रमुख लेनिन था ।

बोल्शेविक इस क्रन्ति के द्वारा सत्ताहस्तगत करने के पश्चात् यह आशा कर रहे थे कि सम्पूर्ण यूरोप में क्रान्ति का प्रसार शीघ्र हो जायेगा । आशा के विपरीत द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के प्रायः समस्त नेताओं को राष्ट्रीय सरकारों के पक्ष में जाते देखकर लेनिन और उसके अनुयायियों ने नयी समाज-वादी पार्टी बनाने का निश्चय किया । पुराने समाजवादियों को धोखेबाज की संज्ञा देकर बोल्शेविकों ने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की तैयारी शुरू कर दी । सन् 1916 में मास्को में जिस समय तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय का सम्मेलन हो रहा था, बर्लिन में क्रान्ति को बुरी तरह से दबा दिया गया और इसके नेता मौत के घाट उतार दिए गए । इस घटना के बावजूद भी लेनिन के नेतृत्व में

बोल्शेविक सम्पूर्ण यूरोप में क्रान्ति का स्वप्न देखते रहे । यहाँ से समाजवादी दल से साम्यवादी दल का अलगाव शुरू हो जाता है । लेनिन के नेतृत्व में जिस नये दल का गठन हुआ वह पूर्ववर्ती समाजवादी कार्यकर्ताओं का आलोचक था । तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय का दूसरा अधिवेशन जुलाई 1920 में हुआ । इस अधिवेशन में विश्व के अनेक साम्यवादी दलों ने भाग लिया । यह विशाल सम्मेलन था । यहीं से प्राचीन समाजवादी आन्दोलन से इसका अलगाव स्पष्ट हो गया ।

तृतीयअन्तर्राष्ट्रीय में कामिन्टर्न । कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल। की सदस्यता की 21 शर्तें रखी गयीं, जिनमें उन समस्त लोगों को छाँट दिया गया, जिन्होंने विश्वयुद्ध में या तो राष्ट्रीय सरकारों का साथ दिया था, या तटस्थ रहे । रूसी तरीके के उग्रसैनिक संगठन को प्रभुता दी गयी और इसके पश्चात् ही समाजवादी दल इससे पूर्णरूपेण अलग हो गया । यहाँ यह भी निश्चय किया गया कि इस नये संगठन का अगुआ रूस होगा और भावी आन्दोलन उसी के निर्देशन पर होंगे । समाजवाद साम्यवाद से अलग हो गया ।

इस संगठन की अनुमानित क्रान्ति 1923 तक नहीं हुई । पोलैण्ड पर हुआ साम्यवादी आक्रमण असफल रहा । अनेक समाजवादियों ने इनसे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया । तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय में सदस्यता स्वीकार कर लेने के बावजूद नार्वेजियन लेबर पार्टी, जर्मन वामपंथी साम्यवादी और फ्रान्स तथा स्पेन के संघ समाजवादियों ने अपना संबंध इसलिए तोड़ दिया,

क्योंकि वे केन्द्रित अधिनायकत्व की नीति के विरोध में थे । रूस की केन्द्रीय नीति का विरोध यूरोप में शुरू हो गया ।

यूरोप में आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता की नीति का सूत्रपात हुआ । लेनिन की मृत्यु के समय तक रूस अपने नियंत्रण वाले दल को अपनी विदेश-नीति के लिये प्रयोग करने लगा था । ट्राट्स्की जैसे कुछ नेता अब भी विश्व-आन्दोलन की आशा लगाये थे । अधिकांश साम्यवादी यह समझ चुके थे कि विश्व- आन्दोलन कल्पना मात्र है ।

समाजवाद और साम्यवाद के बीच पूर्णतः विभाजन

साम्यवादी, परम्परागत समाजवादियों पर यह आरोप लगाते थे, कि उन्होंने मार्क्स के विचारों का उल्लंघन करके विश्वयुद्ध के समय अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी मान्यता के विरुद्ध अपने-अपने राष्ट्रों का साथ दिया । समाजवादियों का साम्यवाद और विशेषकर रूसी अधिनायकत्व पर यह आरोप था कि उन्होंने प्रजातांत्रिक समाजवादी परम्परा का उल्लंघन किया । इस प्रकार परस्पर आक्षेपों से दोनों वर्गों के बीच तनाव बढ़ता ही गया । ये दोनों दल न केवल एक दूसरे से अलग हो गये, अपितु दोनों में पारस्परिक विरोध भी उत्पन्न हो गया । इस अलगाव का सबसे घातक प्रभाव यूरोपीय समाजवादी आन्दोलन पर पड़ा । जर्मनी में सामाजिक प्रजातंत्रवादियों ने संगठित होकर साम्यवादियों को अल्पसंख्यक के रूप में रखा । जर्मन मजदूर आन्दोलन में साम्यवादी प्रभावहीन बने रहे । फ्रान्स में प्रारम्भ में तो

साम्यवादी प्रबल रहे, किन्तु कालान्तर में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ा। थोड़े ही समय में साम्यवादी यहाँ भी अल्पसंख्यक हो गये। इटली की पार्टी तीन वर्गों साम्यवाद, वामपंथी-समाजवाद और दक्षिण पंथी समाजवाद में बँटकर मुसोलिनी के विकास और प्रभुत्व में सहायक हुई। ब्रिटेन में साम्यवादी दल एक प्रभावहीन-वर्ग से अधिक नहीं बन पाया। समाजवादी आन्दोलन द्वितीय एवं तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के समर्थकों के बीच बँट गया, जिसके फलस्वरूप यह अत्यन्त निर्बल हो गया।

कामिन्टर्न (अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद) समय और आवश्यकता के अनुसार अपना रूप बदलतारहा। कभी वह उग्र क्रान्तिकारी रूप में और कभी अपेक्षाकृत अधिक लड़ाकू समाजवादियों के समर्थक के रूप में प्रकट हुआ। किन्तु समाजवाद की परम्परागत धारा के साथ वह अपने को न जोड़ सका। 1929 ई० की आर्थिक विपन्नता के बाद साम्यवादी पूँजीवादी- व्यवस्था के अन्तिम पतन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें आशा थी कि इस समय सर्वहारा क्रान्ति को सर्वव्यापी बनाया जा सकता है, इस कारण उन्होंने वामपंथी मोड़ लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने प्रजातांत्रिक समाजवादियों को " मजदूर वर्ग के शत्रु " तथा " सामाजिक-फासिस्ट" आदि नामों से समाज में निन्दित किया। यहाँ तक विरोध बढ़ा कि प्रशिया में साम्यवादियों ने प्रजातांत्रिक समाजवादियों का विरोध करने के लिए नाजियों का साथ दिया। उन्हें यह विश्वास था कि नाज़ी आन्दोलन अस्थायी एवं अल्पकालिक है और कालान्तर में उन्हें नाज़ियों की प्रभुता स्वतः हस्तगत हो जायेगी।

समाजवादियों ने व्यवहारतः क्रान्ति का मार्ग छोड़ दिया, किन्तु सैद्धान्तिक स्तरपर वे अब भी इसे स्वीकार करते थे । राष्ट्रीय सरकारों से अधिकतम लाभ गरीब मजदूरों को दिलाने के निमित्त समाजवादी एक शक्तिशाली दल के रूप में कार्य करते रहे । यह कार्य निर्माणात्मक था, फिर भी समाजवादियों के सम्मुख कोई सामाजिक और आर्थिक योजना नहीं थी । दिशा के अभाव में कालान्तर में वे प्रभावहीन हो गये । बेरोजगारी के विरुद्ध संघर्ष में ये वेतन के घटाव को रोकने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दिये थे ।

जर्मनी में नाज़ी-अभ्युदय के फलस्वरूप साम्यवाद और समाजवाद दोनों को क्षति हुई । साम्यवादियों ने इस धारणा से नाज़ी विजय में सहयोग दिया था, कि यह एक अस्थायी व्यवस्था है, और विजय के पश्चात् उन्हें जन-आन्दोलन के संचालन के लिए आकृष्ट किया जायेगा । समाजवादी इस आशा में थे कि क्रमशः नाज़ी प्रभाव समाप्त हो जायेगा । इस प्रकार की विघटित शक्ति का पूरा लाभ नाज़ी सरकार को मिला । साम्यवादियों और समाजवादियों को अपने विचार तथा अपनी क्रिया-पद्धति बदलने के लिए बाध्य होना पड़ा ।

आस्ट्रिया का समाजवादी दल यूरोप के अन्य सामाजवादियों की अपेक्षा सैद्धान्तिक और व्यवहारिक रूप में अधिक सक्षम था । वियेना के 50 हजार नागरिक उसके सदस्य थे । तत्कालीन फासिस्ट चान्सलर एन्जेलबर्ट डालफस के अत्याचारों के विरोध में उन्होंने सशस्त्र युद्ध का निश्चय किया ।

फरवरी 1934 में रक्तरंजित युद्ध में चार दिनों बाद समाजवादी पराजित हो गए । इसका प्रमुख कारण यह था कि यह दल अत्यन्त क्षेत्रीय और नगरीय रूप में था जिसे सम्पूर्ण आस्ट्रिया का भी प्रसार प्राप्त नहीं था । इस पराजय के बाद इस सबल पार्टी को भूमिगत होना पड़ा ।

समाजवादी दल का विश्वव्यापी प्रसार -

कार्लमार्क्स के कट्टर अनुयायियों की यह धारणा थी कि समाजवाद सर्व प्रथम उन देशों में आयेगा जो औद्योगिक दृष्टि से विकसित हैं । किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद समाजवाद की एक विचित्र लहर चली, जिसका प्रसार कृषि- प्रधान समाजों और अपेक्षाकृत पिछड़े औद्योगिक देशों में अत्यन्त त्वरित गति से हुआ । इस युग के समाजवादी विचारकों में एक विशिष्टता यह दिखाई पड़ती है कि इनके अनुसार आर्थिक विकास ही सच्चा समाजवाद है और यह उपभोग के परिसीमन और राष्ट्रीय-संसाधन को उत्पादन के निमित्त प्रयोग करने से प्राप्त हो सकता है ।[47] यह विचित्र बात है कि उपभोग- प्रधान समाजों में भी इस परिसीमन और त्यागमय जीवनके महत्त्व को स्वीकार किया गया । किन्तु इन समस्त देशों को आर्थिक उन्नति का आदर्श किसी न किसी रूप में सोवियत रूस ही था । सभी राज्य व्यवस्थाएं, चाहें वे एकदलीय अधिनायकत्ववादी हों, चाहे सैनिक शासन पर आधारित स्वयं को समाजवादी ही मानती रहीं । मार्क्सवाद इन सब के लिये औद्योगीकरण का सूत्र बन गया था । तीव्र आर्थिक विकास के लिये इसे आवश्यक और

अपरिहार्य स्वीकार कर लिया गया । भारतवर्ष और कुछ अन्य देशों में ही शासन का रूप परम्परागत सामाजिक-न्याय, समानता और प्रजातांत्रिक रूप में रह सका । शेष राज्यों में तो समाजवाद के इन परम्परागत मूल्यों को विकास के नाम पर बलि चढ़ा दिया गया ।

पश्चिमी यूरोप में समाजवाद का अर्थ कल्याणकारी-राज्य हो गया । मार्क्सवादी आदर्शों को क्रमशः छोड़ते हुए इन्होंने जनकल्याणकारी राज्य - व्यवस्था को ही समाजवाद का मूलस्वरूप मान लिया । द्वितीय विश्वयुद्ध में प्रायः समस्त समाजवादी दल अपने राष्ट्रीय हितों के आधार पर विभाजित हो गए थे । कालान्तर में इन्होंने लोकतांत्रिक मार्ग से अपनी प्रतिष्ठा करने का प्रयास भी किया, साथ ही साथ अन्य उदारवादी दलों के साथ मिलकर सरकार बनाने में भी इन्हें कोई हिचक नहीं थी । समाजवाद प्रकारान्तर से विलीन होता जा रहा था । समाजवादी अपने आरंभिक आदर्शों को विस्मृत करते जा रहे थे, जिसके अनुसार पूर्ण स्वायत्त राज्य ही सबका कल्याण करने में समर्थ हैं । अब वे इस बात से सहमत हो गये थे कि मिश्रित -अर्थव्यवस्था, जिसमें राज्य का अधिकार अंश पर ही है, पूर्णपर नहीं, भी सबकाकल्याण करने में सक्षम है । यह उस पद्धति का अनिवार्य अंग है, जिसमें समाजवाद के क्रमिक-विकास को मान्यता दी गई है । क्रमिक विकास अनेक स्तरों से होकर गुजरता है और इस प्रक्रिया में उसे अनेक अनिच्छित स्थितियों से भी समन्वय करना पड़ता है । इसको मान्यता फेबियन समाजवादियों तथा जर्मन संशोधन वादियों ।रिविजनिस्टों। के विचारों में मिलती है ।

पश्चिम यूरोपीय समाजवाद में परिवर्तन

पश्चिम जर्मनी

विश्वयुद्ध के बाद के जर्मन सोशल डैमाक्रेटिक पार्टी का झुकाव 1957 के फ्रेंकफर्ट घोषणा से स्पष्ट हो जाता है जिसमें वर्ग-संघर्ष और अन्य परम्परागत मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कोई चर्चा नहीं की गयी है । इस घोषणा में यह कहा गया है कि पार्टी आर्थिक-शक्ति जनता के हाथों सौंपना चाहती है और एक ऐसे समुदाय की रचना करना चाहती है, जिसमें लोग स्वतंत्रता पूर्वक समानता के आधार पर साथ-साथ कार्य कर सकें । [48]इस घोषणा में राज्य के पूर्णरूपेण नियंत्रण का खण्डन किया गया है, यद्यपि यह जनता के नियंत्रण में आर्थिक-विकास का समर्थन करती है । यह योजनाबद्ध कार्यक्रम का समर्थन करती है, किन्तु साम्यवादी योजना से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । दोनों में मूलभूत अन्तर है । समाजवादी योजना में स्वतंत्रता है, यह सीधे जनता के नियंत्रण में है । साम्यवादी योजना पूर्ण अधिकार तंत्र तथा राज्य के नियंत्रण को स्वीकार करती है ।

थोड़े ही समय बाद समाजवादी विचारकों ने मार्क्सवाद से अपना संबंध अंतिम रूप से तोड़ लिया । मार्क्स के नाम तथा उनके सिद्धान्त में प्रयुक्त "वर्ग" और "वर्ग-संघर्ष" शब्दों का भी प्रयोग 1959 के कार्यक्रमों में नहीं मिलता । दोनों विचारधाराओं में इतना प्रबल और स्पष्ट भेद हो गया कि इस कार्यक्रम में समाजवादियों ने व्यक्तिगत -सम्पत्ति को भी उचित

ठहराया है । उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत-स्वामित्व को समाजवादियों द्वारा स्वीकार किया जाना उनकी तीव्र प्रतिक्रिया का द्योतक है । समाजवाद का रूप प्रतिक्रियात्मक होता जा रहा था । तीव्र-परिवर्तन मुख्य धारा से नितान्त अलगाव और स्वीकृत मान्यताओं के पुनरीक्षण की अनिवार्यता को जन्म देता है । समाजवाद के विकास और ह्रास की कहानी में यह तथ्य पुष्ट होता है । बीसवीं शती के छठें दशक तक पहुँचते-पहुँचते यह विचारधारा मौलिक मान्यताओं से काफी दूर हो चुकी थी । इस दूरी का प्रमुख और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण मार्क्सवाद का, जो इसी मुख्यधारा से उत्पन्न धारा थी, व्यापक प्रभाव था । समाजवादी केन्द्रीय-योजना की नीति का विरोध और प्रतिस्पर्धात्मक बाजार का समर्थन करने लगे थे । "मिश्रित-अर्थव्यवस्था" को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया । मिश्रित-व्यवस्था, केन्द्रीय-योजनाऔर व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तों का मिश्रण है । सार्वभौम-समाजवाद का दावा छोड़कर अब यह दल बहुवादी व्यवस्था को स्वीकार करचुका था, जिसके अनुसार किसी भी एक राजनैतिक दल को अपने विचार सब पर आरोपित करने का अधिकार नहीं है । समाज पर किसी दल का प्रभुत्त्व इस रूप में स्वीकार्य नहीं है, कि उसके निर्देश का पालन अनिवार्य हो जाय । जर्मनी में इस लोकतांत्रिक समाजवादी दल का शासन भी बीसवीं शती के छठें -सातवें दशक में स्थापित हुआ । किन्तु उस अवधि में भी इनके कार्यक्रम सुधारवादी और इनका स्वरूप जन कल्याणकारी-राज्य ही रहा । समाजवादी विचारधारा का मूलरूप इसी रूप में सुरक्षित रह गया है ।

ब्रिटिश लेबर पार्टी, जो मूल समाजवादी विचारधारा का ही अंग है, कभी भी मार्क्सवाद से प्रभावित नहीं हुई । 1945 में इस दल का राज्य स्थापित हुआ । छः वर्षों के अपने शासन-काल में इन्होंने प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य ब्रिटिश कल्याणकारी राज्य की स्थापना किया । ब्रिटिश-राज्य-व्यवस्था में इस दल के द्वारा किए गए सुधारों के अवशेष अब भी उपलब्ध हैं । सत्ता से हट जाने के बाद भी इनके सत्प्रयासों का फल उस समाज में व्याप्त है । केवल स्टील उद्योग ही सार्वजनिक क्षेत्र से व्यक्तिगत क्षेत्र में आ गया, शेष राष्ट्रीयकृत क्षेत्र अपरिवर्तित रहे । कालान्तर में दल का कार्यक्रम सुधारवादी ही रहा । 1965 में पुनः सत्ता में आने के बाद भी दल की कार्यपद्धति में कुछ विशेष अन्तर न आया । ये विशुद्ध रूप से कल्याणकारी राज्य के साथ जुड़ गए और एतदर्थ आवश्यक सुधार ही इनका कार्यक्रम बन गया ।

प्रायः सम्पूर्ण पश्चिम-यूरोपीय देशों में समाजवाद की यही स्थिति है । उन्होंने कल्याणकारी राज्य की स्थापना को ही लक्ष्य बना लिया है । मार्क्सवादी विचारधारा से उनके अलगाव को लेकर उनमें कुछ कोटिगत अन्तर हैं, किन्तु सबमें यह तत्त्व सामान्य है कि वे मार्क्सवाद को अलग हटाना चाहते हैं । अब भी कुछ ऐसे सिद्धान्तवादी हैं, जिनका विश्वास है कि समाजवाद कल्याण राज्य के स्तर से आगे बढ़ेगा और वर्गहीन समाज की रचना होगी, जिसमें आर्थिक वितरण समानता के आधार पर होगा । किन्तु ये विचार उनके कार्यक्रमों से पुष्ट नहीं होते । इस दिशा में वे प्रयत्नशील भी

नहीं दिखाई देते । वर्तमान काल में समाजवाद का अर्थ प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और जनकल्याणकारी राज्य-व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है । केवल यूरोप में ही नहीं, अन्य महाद्वीपों में भी इसका यही अर्थ रह गया है । वर्तमान भारतवर्ष में भी समाजवाद कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था के अर्थ में व्यवहृत हो रहा है ।

समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व के विचारों से युक्त एक समाज का ढाँचा आदर्श के रूप में आज भी लाखों लोगों के मन में है । अपने इस मौलिक स्वरूप में समाजवादी विचारधारा अत्यन्त आकर्षक है, किन्तु लम्बे इतिहास की अवधि में इसका मूलरूप कितना परिवर्तित हो गया, इसका लेखा-जोखा देखने से ज्ञात होता है कि वह स्वरूप लगभग खो चुका है । जो राजनैतिक आन्दोलन इन विचारों को क्रियान्वित करने के लिए संचालित किया गया था, वह अनेक खण्डों में विभाजित होकर अपनी मौलिक शक्ति खो चुका है । समाजवाद के नाम का दुरुपयोग अनेक ऐसी क्रान्तियों के लिए भी किया गया जिनका समाजवादी आन्दोलन से केवल दूरस्थ संबंध था । रूसी क्रान्ति द्वारा जिस तानाशाही अधिनायकतंत्र की स्थापना हुई, वह समाजवादी आन्दोलन के परिणाम के रूप में माना जाता है । इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे तानाशाही आन्दोलन हुए, जिनको समाजवाद से दूरस्थ संबंध भी न होने पर भी इसके नाम के साथ जोड़ दिया गया ।

वर्तमान काल में यूरोप और अमेरिका में समाजवादका अर्थ केवल सामाजिक सुरक्षा एवं जन-कल्याणकारी राज्य रह गया है । इसके अतिरिक्त इस महान आन्दोलन के समक्ष और कोई लक्ष्य ही नहीं दिखाई पड़ता है । आज समाजवादी विचारकों के सम्मुख यह एक अनुत्तरित प्रश्न खड़ा है कि "जन कल्याणकारी राज्य के बाद -क्या"? इस प्रश्न का उत्तर देने का अवसर समाजवाद को मिलेगा या नहीं, इसका निर्णय आने वाला युग करेगा । वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने सुधारवादी और प्रतिक्रियावादी स्वरूप को त्यागकर नया रूप ले ।

समाजवाद का नया रूप इसकी मूल मान्यताओं के साथ कुछ नये मूल्यों को जोड़ने से निर्मित होगा । इसे प्रजातंत्र और मानवतावाद के साथ अपने अनिवार्य संबंध का निर्वाह करते हुए दोहरी नीति को त्यागकर विचार और कार्यक्रम दोनों में एक पद्धति विकसित करनी ही पड़ेगी । समानता के सिद्धान्त की रक्षा व्यक्तिगत उत्पादक सम्पत्ति के साथ नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में समाजवाद को व्यक्तिगत-सम्पत्ति के स्वामित्व का विरोध करना ही पड़ेगा । यह केवल प्रतिक्रिया है कि साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है, अतः समाजवाद इसका पक्षधर बने । उत्पादन के विकास की अपेक्षा उपभोग की सीमा खींचकर समाजवाद साम्यवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समाज-व्यवस्था दे सकता है । त्याग एवं अपरिग्रह के मूल्यों को स्थान देकर यह विचारधारा पुनः नवीन रूप ग्रहण कर सकती है ।

सन्दर्भ

1- ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, समाजवादी चिन्तन का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग। प्रथम संस्करण, 1978, पृ04

2- अशोक मेहता, स्टडीज इन सोशलिज्म, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1964 द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 17

3- ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 3

4- वही पृष्ठ 14

5- कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंजेल्स, मेनिफेस्टो आफ द कम्युनिस्ट पार्टी, फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, पृष्ठ 91-105

6. "Where shall we find ideas which can provide this necessary and organic social bond ? In the idea of industry only there shall we find our safety and the end of the revolution".

Henri comte de Saint Simon, selected writings, edited and translated with an introduction by F.M.H. Markham, Oxford and Gloucester, Mass, 1952, P-69

पुनश्च-

"In my opinion the sole aim of our thoughts and our exertion must be the kind of organization most favourable to industry ....".

सेन्ट साइमन, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृष्ठ 70

7. "........remember that the property owners, though inferior in number, are more enlightened than yourself, and that in the general interest, domination should be proportionate to enlightenment." सेन्ट साइमन, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 8

8. द्रष्टव्य, ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 84

9. "government should Co-opt and endow with property those who are without property but distinguished by outstanding merit" सेन्ट साइमन, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 47

10. Saint Simon was convinced that merit lay in usefulness to the community, in talent and effort which went into the production of useful goods". R.N. Berki, Modern Ideologies; Socialism, J.M. Dent and sons, London, 1978, P.44

11. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 84

12. "If economic interests do have the supremacy attributed to them, if, as a result, it is to these interests that human ends are reduced, the only good society can set itself is to organize industry in such a way as to secure the maximum production possible". Emile Durkheim, 'Socialism and Saint Simon, --P. 196.

13. "Society can not become industrial unless industry is socialized. This is how industrialism logically ends in socialism". इमाइल दुरखीम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 141

14. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 108

15. "These passions, he argues, continually frustrated in our civilized way of life, resulting in misery, strife and unhappiness" द्रष्टव्य- आर0एन0बर्की, उपरिउद्धृतग्रंथ, पृ0 53-54

16. "It is given no other outlet than marriage. Is'nt this enough to suggest that civilization is an order contrary to the designs of God". The Utopian vision of charles Fourier, selected text on work, love and passionate attraction, translated and introduced by J. Beecher and R. Bienvenu, London, 1972, P.333.

17. Lawrence Arthur Cremin, Socialism, Encyclopaedia Britanica, 16th Vol, 15th Ed. P.965.

18. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 111

19. "productive power is already sufficient to saturate the world with wealth and that the power of creating the wealth may be made to advance perpetually in an accelerating ratio ". Robert Owen, Report to the county of Lanark, Everyman's library, 1972, P.202.

20. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 99

21. वही, पृ0 100

22. "The feudal aristocracy and the aristocracy of wealth have coalesced and those last admitted into the unholy coalition against the happiness of the great majority of their fellow-creatures, are frequently the most bitter enemies .... of the industrious classes". William Thompson, Labour Rewarded, New York 1971, P.9.

23. ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 103

24. लारेंस आर्थर क्रेमिन, सोशलिज्म, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका खण्ड 16, संस्करण 15वाँ, पृ0 967

25. वही, पृ0 967

26. "Marx has, it seems, an answer to everything. One can dislike or disagree with him, but one can not fail to be impressed. Marx is perhaps the only political thinker who has been and is continuously relevant to social problem of all kinds". R.N. Berki, Modern Ideologies Socialism P.56.

27. लारेंस आर्थर क्रेमिन, उपरिउद्धृत, पृ0 967

28. द्रष्टव्य: अशोक मेहता, स्टडीज इन सोशलिज्म, पृष्ठ 162 पर उद्धृत ।

29. "The history of all hither to existing society is the history of class-struggle". Karl Marx and Frederick Engels, Mainfesto of the Communist party P.42.

30. Lawrence Arthur Cremin, Socialism, Encyclopaedia Britanica, 16th Vol. P.967.

31. अशोक मेहता, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 105

32. लारेंस आर्थर क्रेमिन, उपरिउद्धृत, पृ0 968

33. अशोक मेहता, उपरिउद्धृत, पृ0 106

34. वही, पृ0 108

35. द्रष्टव्य, वही पृ0 189

36. "To the Lassallian policies we have added only pure detail". G. B. Shaw, The Road to equality, Boston, 1971, P.65.

37. अशोक मेहता, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 189

38. वही, पृ0 193

39. लारेंस आर्थर क्रेमिन, उपरिउदधृत, पृ0 968

40. अशोक मेहता, उपरिउदधृत, पृ0 137

41. वही, पृ0 137

42. लारेंस आर्थर क्रेमिन, उपरिउदधृत पृ0 969

43. वही, पृ0 971

44. वही, पृ0 971

45. वही, पृ0 973

46. वही, पृ0 973

47. वही, पृ0 971

48. वही, पृ0 973

द्वितीय खण्ड

वेदान्त के सम्प्रत्ययों में समाजवाद की अवधारणा

वेदान्त में सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सम्प्रत्यय

अद्वैत वेदान्त के अनेक ऐसे आदर्श हैं, जिनका सदुपयोग सामाजिक-परिप्रेक्ष्य में हो सकता है । इन सम्प्रत्ययों की समाजदार्शनिक व्याख्या इस तथ्य की पुष्टि करती है कि ये समाजवादी आदर्शों को समुचित तत्वमीमांसीय आधार प्रदान करने में समर्थ हैं । ऐसे कतिपय सम्प्रत्ययों पर इस अध्याय में विचार किया गया है ।

अद्वैत और साम्य

अद्वैत का आदर्श पूर्ण-तादात्म्य के संबंध का पोषक है । यह आदर्श समानता के सभी आदर्शों से आगे है । समानता भेद को अनुचित बताती है, किन्तु अद्वैत तो इसे नितान्त मिथ्या मानता है । किन्तु क्या अद्वैत व्यावहारिक सम्प्रत्यय है? इसका स्पष्ट उत्तर निषेध में ही दिया जा सकता है । अद्वैत व्यावहारिक नहीं है । यह पारमार्थिक सम्प्रत्यय है । इसे केवल परमार्थ जगत् पर ही लागू किया जा सकता है । यह सम्प्रत्यय एक आदर्श का कार्य करता है । समानता के समस्त सिद्धान्तों को इस आदेर्श से निर्देश मिलते हैं । यह निर्देश- सिद्धान्त है । व्यवहार-जगत् में इसके अनेक रूप मिलते हैं । ये विविध-रूप क्रमिक विकास का प्रदर्शन करते हैं । कुछ आदर्श के निकट पहुंच रहे हैं, कुछ अभी दूर हैं । उन सबको निकट पहुंचने का निर्देश देना ही आदर्श का अर्थ होता है ।

अद्वैत के आदर्श को समाज में व्यावहारिक रूप देने के लिए समता, साम्य आदि शब्द रचे गये । इस व्यावहारिक रूप में यद्यपि आदर्श पूर्णरूपेण अवतरित नहीं है, फिर भी सामाजिक जीवन की दृष्टि से यह उपयोगी है । मुण्डकोपनिषद् में ।2-2-8। कहा गया है-" तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत: ।" अर्थात् अभेद द्रष्टा शोक और मोह से मुक्ति पा लेता है । यह मुक्ति साम्य, समता आदि व्यावहारिक रूपों के पालन से भी प्राप्त हो सकती है । समाज में एकत्व-दर्शन के प्रयास का अर्थ है, सभी प्राणियों को आत्मवत् देखना । लौकिक जीवन में यह संभव न हो तो भी कम से कम सभी मनुष्यों को आत्मवत् देखना तो अवश्य संभव है । यह सत्य है कि पूर्ण साम्य अव्यवहार्य है, अत: कम से कम भौतिक कर्तव्यों और शारीरिक अधिकारों की समानता अवश्य कायम होनी चाहिए । समाज में जिस समानता के लिये विद्रोह और विरोध है, वह भौतिक समानता ही है । अत: इसके माध्यम से सामाजिक-व्यवस्था को कायम करना उचित होगा । इस भौतिक समानता का विरोध किसी से नहीं होना चाहिए । जिन्हें समानता से कुछ प्राप्त होना है, उनके द्वारा विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता । जिन्हें कुछ खोना है उनके द्वारा भी विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि भौतिक वस्तुओं की दान, उपभोग और नाश तीन ही गतियाँ हैं । उपभोग की एक सीमा है । उससे अधिक सम्पत्ति और भौतिक सम्पदा का त्याग करना चाहिए

अन्यथा वह नष्ट हो जाएगी । इसलिए भौतिक समता की स्थापना का विरोध समाज के किसी वर्ग को नहीं करना चाहिए । साम्य किसी स्थिति विशेष का नाम नहीं है । किसी विशिष्ट समुदाय को विशिष्ट समय में सम बनाने का कोई अर्थ नहीं है । विकास अथवा ह्रास की अनवरत प्रक्रिया के फलस्वरूप यह साम्य अवश्य बिगड़ जाएगा, अतः इसे भी एक संचारी व्यवस्था का रूप देना आवश्यक है । यह रूप कर्तव्य-पालन से प्राप्त होता है । कर्तव्य-पालन करते हुए संयुक्त प्रयास से समाज निरन्तर समता को प्राप्त कर सकता है । अधिकारों की समानता कर्तव्य-पालन के बिना क्षणिक और अस्थायी है । समता केवल भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित है । आध्यात्मिक जगत के लिये अधिकारों का भेद, योग्यता और क्षमता के भेद का प्रश्न अवश्य उपस्थित होगा । वास्तव में उस क्षेत्र की समता के लिए कोई युद्ध और विद्रोह भी नहीं है । अतः अद्वैत के आदर्श का समुचित सामाजिक उपयोग साम्य के रूप में आवश्यक है ।

स्वाराज्य -

स्वाराज्य शब्द अत्यन्त प्राचीन है । इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में भी मिलता है । वहाँ परोक्षतः उसका अभिप्राय लौकिक स्वतंत्रता है । उपनिषद् काल में इस शब्द का अर्थ परिवर्तित होता है । यह स्व और राज्य से मिलकर बना है । स्व आत्मा का बोधक है ।

राज्य का अर्थ अनुशासन है । स्वाराज्य का अर्थ आत्मानुशासन है ।
मनु ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है -

सर्वभूतेषुयात्मानं सर्वभूतानियात्मनि ।
सम्पश्यन्नात्मयाजीवै स्वाराज्यमधिगच्छति ।। ।।2/9।।

इसके द्वारा इन्द्रिय-दमन, प्रकृति-शमन, भावना- नियमन और
आत्मानुशासन की शिक्षा दी गयी है ।

स्वाराज्य सिद्धि वस्तुतः समस्त बन्धनों से मुक्ति का नाम है ।
पूर्ण स्वाराज्य में समस्त बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है । क्योंकि
समस्त बन्धनकारी तत्वों पर साधक का नियंत्रण हो जाता है जिसके
फलस्वरूप स्वराज की प्राप्ति होती है । इन्द्रिय, प्रवृत्ति, भावना आदि
के नियंत्रण का सहजफल मोक्ष है । श्री अरविन्द ने स्वराज और स्वाधीनता
के अर्थ को भिन्न बताते हुए कहा है कि प्रथम आन्तरिक और आध्यात्मिक
स्वतंत्रता है और द्वितीय बाह्य और राजनैतिक । किन्तु बाल गंगाधर तिलक
ने बाह्य स्वतंत्रता को आन्तरिक स्वतंत्रता के लिये आवश्यक और अनिवार्य
बताते हुए स्वराज्य को भी स्वाधीनता का ही आन्तरिक रूप स्वीकार
किया है । बाह्य स्वतंत्रता साधन है, आन्तरिक साध्य । बाह्य के विकास
से ही आन्तरिक की प्राप्ति होती है । अतः स्वराज्य के लिये स्वाधीनता
आवश्यक है ।

स्वाराज्य के इस शास्त्रीय सिद्धान्त को अरविन्द और तिलक ने स्वतंत्रता-संग्राम में व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया । प्रो०के०सी०भट्टाचार्य ने भी इसे अपने विचार का विषय बनाया है । उन्होंने सन् 1929 ई० में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध लेख "विचारों में स्वराज"। स्वराज इन आइडियाज। में "भारतीय पराधीनता और उसके संभव निराकरण के उपाय" का सम्यक् विवेचन किया है । उनका यह विवेचन गांधीजी के 1909 में प्रकाशित क्रान्तिकारी ग्रन्थ "हिन्द स्वराज" में निरूपित विश्लेषण से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।[1] दोनों में अन्तर केवल उतना है जितना क्रान्तिकारी लेखन और दार्शनिक चिन्तन के बीच आवश्यक है । प्रो० भट्टाचार्य के लेख में प्रतिपादित मत दार्शनिक-गवेषणा है जो स्वराज की समस्या का निष्पक्ष चित्रण करता है, उसके स्वरूप को स्पष्ट करता है और उसकी प्राप्ति के संभव वैचारिक उपायों का निदर्शन करता है ।

प्रो० भट्टाचार्य ने अपने लेख में यह स्थापना की है, कि राजनैतिक परतंत्रता मूलतः बाह्य होती है । इसका प्रभाव बाह्य जीवन पर पड़ता है । यह धीरे-धीरे आन्तरिक जीवन-आत्मा-को प्रभावित करती अवश्य है, किन्तु सावधानी से प्रयत्न करने पर इससे बचा जा सकता है । उनका कथन है कि दासता का आरम्भ तब होता है जब इसमें निहित अशुभ की अनुभूति समाप्त हो जाती है और यह तब और गहन हो जाती है, जब अशुभ को ही शुभ समझ लिया जाता है ।[2] यहाँ उनका अभिमत उचित प्रतीत

होता है । स्वराज अथवा दासता का सम्यक् अर्थ तो आन्तरिक परिप्रेक्ष्य में ही प्रकट होता है । हथकड़ी में बंधा हुआ शरीर आत्मिक स्वतंत्रता का खण्डन नहीं कर सकता । बाह्य बन्धन का अनिवार्य संबंध आन्तरिक बन्धन अथवा स्वतंत्रता से नहीं होता ।

सांस्कृतिक दासता आन्तरिक दासता है । प्रो० भट्टाचार्य ने यह स्पष्ट कहा है कि सांस्कृतिक दासता का अर्थ सांस्कृतिक मेल-जोल नहीं होता । विभिन्न संस्कृतियों का पारस्परिक संगम अशुभ नहीं है । प्रायः इस प्रकार का मिलाप स्वस्थ विकास के लिये उपयोगी सिद्ध होता है । ऐसे मिलाप से अशुभ की उत्पत्ति तब होती है, जब किसी की परम्परागत संस्कृति परीक्षण एवं तुलना के बिना ही हेय मानकर अन्य (विदेशी) संस्कृति द्वारा हटा दी जाती है ।[3] किसी सिद्धान्त को बिना परीक्षण किए स्वीकार करना मूढ़ का लक्षण है -

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नचापि सर्वं नवमित्यवद्यम् ।
> सन्ताः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढाः परोत्पन्नमतीवबुद्धिः ।।

किन्तु बिना परीक्षण किए ही किसी सिद्धान्त को अस्वीकार करना भी उतनी ही बड़ी मूढ़ता है । जब तक परीक्षण न किया जाय, तब तक इस बात का निर्णय हो ही नहीं सकता कि कौन सा सिद्धान्त शुभ है, कौन

अशुभ । विदेशी संस्कृति को स्वीकार करके स्वदेशी संस्कृति का बहिष्कार करना निश्चय ही सांस्कृतिक-दासता है । विदेशी संस्कृति स्वीकार करने वाले व्यक्ति में सामर्थ्य काअभाव भले ही उसे विदेशी संस्कृति को स्वीकार करने को बाध्य कर दे, किन्तु हृदय के किसी न किसी कोने में यह बात खटकती अवश्य है ।

कुछ लोगों को यह बात नहीं खटकती । वे ऐसे लोग हैं जो परम्परागत संस्कृति से अपना हार्दिक लगाव नहीं बना पाते । इसके अनेक कारण संभव हैं, जिनमें सर्वप्रमुख कारण कुशिक्षा है । शिक्षा सांस्कृतिक धरोहर का संवहन करने वाले माध्यम के रूप में परिभाषित की जाती है । जब वह इस कार्य में विफल हो जाती है, तब शिक्षा का कुत्सित रूप प्रकट होता है । कुत्सित शिक्षा परम्परागत सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़ती नहीं है, अतएव इसके अन्तर्गत शिक्षित लोग बाह्य संस्कृति को आसानी से बिना विचार किए ही स्वीकार कर लेते हैं । ऐसे लोग दासता को जन्म देने वाले हैं । यह दासता सांस्कृति दासता है, जो राजनैतिक दासता से भी अधिक भयावह है ।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में सांस्कृतिक दासता को स्वीकार करने वाले शिक्षित कभी-कभी अपनी प्राचीन परम्परागत संस्कृति के अन्दर आश्चर्य की दृष्टि से झाँकते हैं, किन्तु इसमें भी उनकी दृष्टि उन पाश्चात्य विद्वानों

के अनुसार होती है, जिन्होंने प्राच्य विद्या काअध्ययन किया है । [4] जो लोग अपनी संस्कृति पर मौलिक दृष्टि डालने में भी समर्थ नहीं है, ऐसे लोगों द्वारा विदेशी संस्कृति को स्वीकार किया जाना, विवेकहीनप्राणियों के प्राकृतिक संवेग द्वारा संचालन से अधिक कुछ नहीं है । इससे दोनों संस्कृतियों की उच्चता और निम्नता का बोध कदापि नहीं होता । प्रो० भट्टाचार्य का मत समीचीनहै । उनके अनुसार विदेशी संस्कृति को हमने स्वीकार किया भी तो विचार पूर्वक नहीं । यह अधकचरे मस्तिष्क पर बाह्य आरोप मात्र है । [5] मस्तिष्क अधकचरा इस अर्थ में है कि यह न तो पूर्णतः स्वीकार करने की स्थिति में है और न ही पूर्णतः अस्वीकार । यह स्वीकृति अर्थहीन है, क्योंकि अविचारित स्वीकृति स्थायी नहीं होती । इसमें परिवर्तन की संभावना सदैव बनी रहती है । यदि किसी भी अन्य सांस्कृतिक आदर्श को उनके सम्मुख ठीक से रखा जाय तो वे उसे छोड़कर इसे स्वीकार कर लेंगें । अतः "क्षणे रूष्टा क्षणे तुष्टा " इन अव्यवस्थित चित्त वालों की स्थिति अनिश्चित है । इनके द्वारा भारत की प्राचीन संस्कृति को छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण न तो आश्चर्यजनक है और न ही चिन्ताजनक । जिसे अपनी संस्कृति काबोध ही न हो उसके लिए कोई भी संस्कृति अपनी बन सकती है, अतः उनके आचरण पर आश्चर्य नहीं करनाचाहिए । और न चिन्ता ही करनी चाहिए, क्योंकि ये जिस संस्कृति को स्वीकार भी करते हैं,उसे भी आधे मन से ही । अतः समुचित शिक्षा द्वारा उन्हें पुनः अपनी प्राचीन संस्कृति में वापस लाया जा सकता है ।

सांस्कृतिक स्वाराज्य ही सच्चा स्वाराज्य है । विचारों की स्वतंत्रता इसके लिये आवश्यक है । प्रो0के0सी0 भट्टाचार्य के लेख में इस स्वाराज्य की चर्चा वेदान्त दर्शन के आदर्श के सामाजिक पक्ष को प्रकट करती है ।

लोक - संग्रह -

लोक संग्रह का अर्थ है सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण । लोक-संग्रह शब्द काप्रयोग गीता में अनेक बार हुआ है । यह निष्काम कर्म से प्राप्त होने वाला साध्य है । गीता में कहा गया है -

सक्ता कर्माण्यविद्वांसो यथाकुर्वन्ति भारत ।
असक्ता तेषु कर्मेषु चिकीर्षुर्लोक संग्रहः ॥

यहाँ लोक संग्रह अनासक्त कर्म का परिणाम बताया गया है । लोक-संग्रह सर्व जनकल्याण का नाम है । इसमें समाज के किसी एक वर्ग अथवा कुछ वर्गों की उन्नति की बात नहीं कही गयी है । निष्काम कर्मयोगी के समस्त कर्मों के फल लोक-कल्याण के लिये होते हैं । समाज-कल्याण के अन्यान्य सिद्धान्तों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि लोक-संग्रह उनसे उच्चतर और व्यापकतर व्यवस्था है । यहाँ तक कि लोक-संग्रह को पारलौकिक उपलब्धि का साधन भी माना गया है । गीता के अनुसार

मुक्ति ईश्वर के प्रति समर्पण और ज्ञान के साथ-साथ लोक-संग्रह द्वारा भी सम्भव है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोक-संग्रह केवल सामाजिक सिद्धान्त ही नहीं अपितु परम पुरूषार्थ मोक्ष का भी साधन है । यह एक साथ लोक व परलोक दोनों का ही साधन है । परलोक एवं पारलौकिक उपलब्धियों को अस्वीकार करने वाले विचारकों की दृष्टि में यद्यपि यह विवाद का विषय है कि लोक-संग्रह कर्म का मार्ग होने के कारण मोक्ष का साधन भी बन सकता है अथवा नहीं, किन्तु लोक के विषय में इसे अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त मानने से कोई नहीं इनकार कर सकता । इन विचारकों को भी इसे एक सुव्यवस्थित एवं लोक-कल्याणकारी स्वाभाविक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा । यह सामाजिक स्वास्थ्य के लिये उत्तम व्यवस्था है । इसके द्वारा समाज की अनेक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है ।

अभेद

यह वेदान्त दर्शन का संप्रत्यय है, जो समस्त भेदों का निराकरण करता है । भेद तीन प्रकार के माने गये हैं -विजातीय, सजातीय और स्वगत । अभेद इन तीनों प्रकार के भेदों का निराकरण करता है, अर्थात अभेद वह अवस्था है, जिससे भिन्न कोई न हो, जिसके जैसा कोई न हो

और जिसके कोई अवयव अथवा अंग न हों । अभेद के इस संप्रत्यय का पोषण प्रमुखरूप से अद्वैत वेदान्त परम्परा में हुआ है । शेष वेदान्त के सम्प्रदाय स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं । अद्वैत वेदान्त पूर्ण अभेद को मानता है ।

अभेद को कुछ विचारक निषेधात्मक प्रत्यय मानते हैं- क्योंकि अ पूर्वक होने के कारण इसका व्याकरणात्मक स्वरूप निषेधमूलक प्रतीत होता है । किन्तु अभेद निषेधात्मक नहीं है । आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका में अभेदवाद कावर्णन करते हुए कहा है कि यह न तो निषेधमूलक है और न ही निषेध का निषेध होने के कारण विधिमूलक । यह वास्तव में स्वरूपतः विधिमूलक संप्रत्यय है और समस्त भेद निषेधमूलक हैं । वेदान्त दर्शन में अभेद को ब्रह्म अथवा आत्मा का स्वरूप माना गया है और यह पारमार्थिक स्थिति है ।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।   गौ०का०
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समंजसम् ।। अद्वै० 13 ।।
माययाभिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथंचन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ।। 19 ।।
अकल्पकमजंज्ञानं ज्ञेयाभिन्न प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ।। 33 ।।

भेदों का निराकरण करने वाला सिद्धान्त होने के कारण अभेदभाव सामाजिक विचारों के लिये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यह पारमार्थिक

स्तर का संप्रत्यय है । इसका व्यावहारिक रूप साम्य, समता, सहिष्णुता आदि के रूप में दिखाई पड़ता है । इन व्यावहारिक रूपों का समाज के लिए बहुत बड़ा महत्व है । समता समाज का प्राण है । भौतिक स्तर पर समता वांछनीय है, क्योंकि भौतिक जगत् प्रकृति द्वारा नियन्त्रित है । किन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक स्तर पर समताआवश्यक ही नहीं बल्कि सिद्ध भी है । आध्यात्मिक स्तर पर अभेद की स्थापना वेदान्त के अनेक आचार्यों ने की है । अभेद सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है । अतः व्यावहारिक स्तर पर समता, साम्य आदि उसी की छाया के रूप में मानी जाती है ।

संन्यास -

संन्यास शब्द का उल्लेख प्राचीन भारतीय वांङ्मय में अनेक बार मिलता है । उत्तर वैदिक काल में इसका उल्लेख चतुर्थ आश्रम के रूप में शुरू हुआ । आश्रम-व्यवस्था में सन्यास समस्त नैमित्तिक कर्मों के त्याग का वाचक है । उपनिषद् साहित्य में संन्यास कर्मत्याग अथवा अकर्म का पर्याय-वाची बन गया । श्रीमद्भगवद्गीता में संन्यास का स्वरूप बदला हुआ दिखाई पड़ता है । यहाँ संन्यास कर्म का त्याग नहीं रह गया, अपितु समस्त कर्मों को करते हुए उन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल की इच्छा का त्याग बन गया। इस रूप में संन्यास लोक संग्रह के लिए हो जाता है । गीता स्पष्ट घोषणा करती है कि क्षणमात्र के लिए भी कर्म का पूर्णरूपेण त्याग मनुष्य के लिये संभव नहीं है ।

अतः कर्म के त्याग की बात सोचना अप्राकृतिक है । कर्म के फलों का त्याग लोकहित में कर देना सच्चा संन्यास है । गीता के पूर्व तक संन्यास केवल पारलौकिक उपलब्धि-मोक्ष के लिए था, किन्तु गीता में इसे पारलौकिक के साथ-साथ लौकिक-जीवन के लिए भी उपयोग सिद्ध किया गया है । कर्म करते हुए उसके फल का त्याग लोकहित का साधक है ।

आधुनिक युग में स्वामी विवेकान्नन्द और स्वामी रामतीर्थ ने संन्यास शब्द को और भिन्न अर्थों में परिभाषित किया । इनके अनुसार संन्यास का अर्थ है स्वार्थपूर्ण कर्मों का त्याग । सम्पूर्ण समाज के लिए कार्य करने वाला व्यक्ति सच्चा संन्यासी है, जिसके आचरण से समाज सुखी हो, वही संन्यासी है । यहाँ भी संन्यास अनिवार्यतः त्याग से जुड़ा हुआ है । यह त्याग कर्मों का नहीं, अपितु स्वार्थों का त्याग है । मानवमात्र के हित की कामना,उसके लिए प्रयास करना, दीन, दुखी और असमर्थ की सहायता करना ही सच्चा संन्यास है । स्वामी विवेकानन्द ने तो संन्यासी को आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता कहा है । ऐसा संन्यासी समाज का अंग होता है और अन्य अंगों की ही भाँति समाज के विकास में सहायक भी होता है । समस्त कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी समाज पर भार होता है, किन्तु स्वयं कर्म करते हुए और उससे उत्पन्न फलों को सम्पूर्ण मानवता के लिए समर्पित करने वाला संन्यासी समाज को ।ढोने वाला। उद्‌वाहक होता है । उसके कंधों पर मानवता के विकास का भार होता है । वह आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता है ।

ईशावास्यमिदं सर्वम् -

ईशावास्योपनिषद् प्रारम्भ में ही त्याग और संन्यास का अद्भुत चित्र उपस्थित करती है ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मांगृध: कस्यस्विद्धनम् ।।

इस श्लोक में उपनिषद् के द्रष्टा ऋषि ने त्याग के सर्वोच्च आदर्श की स्थापना की है । यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है, वही इसकी सम्पूर्ण सम्पदा का स्वामी है । मनुष्य का अधिकार उसी के आदेश से केवल उतनी सम्पत्ति पर है, जितनी जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है । जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति से अधिक रखना परिग्रह है और यह परिग्रह अनेक दोषों को जन्म देता है । इसीलिए वेदान्त दर्शन में अपरिग्रह को मोक्ष के लिए आवश्यक साधनों का एक अंग माना गया है । अपरिग्रह के बिना मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता ।

त्यागपूर्वक जीवन-यापन का यह आदर्श सांसारिक उपभोगों की सीमा निर्धारित करता है । समाज के विकास के लिए उत्पादन में वृद्धि के साथ ही उपभोग कापरिसीमन भी अनिवार्य है, क्योंकि उपभोग की अनन्तता अनन्त उत्पादन को भी अपर्याप्त बना देती है । अत: सामाजिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए उत्पादन में वृद्धि के साथ

उपभोगों की सीमा का निर्धारण भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है ।

उपभोग की सीमा का निर्धारण सामाजिक समता के लिए सहायक है । सामाजिक विषमता समाज के विभिन्न वर्गों की आय अथवा पूँजी से उतनी प्रभावित नहीं होती, जितनी उसके अनियंत्रित उपभोग से । उपभोग की सीमा निर्धारण के लिये भारतीय मनीषियों ने अन्य सिद्धान्त भी दिये हैं, यथा-आश्रम व्यवस्था । यह व्यवस्था भी उपभोगों के परिसीमन के निमित्त बनायी गयी है । जीवन के आदि और अन्त में ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम त्यागपूर्ण जीवन के लिए हैं । ब्रह्मचर्य आश्रम सम्पूर्ण सांसारिक विषय भोगों से दूर रहकर शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की अवस्था है । संन्यास आश्रम समस्त कामनाओं के त्याग का पर्यायवाची है, और वानप्रस्थ आश्रम इसकी तैयारी है । इन आश्रमों को त्यागमय बताकर भारतीय मनीषियों ने उपभोग के काल गृहस्थ आश्रम को सीमित कर दिया है । आदि और अन्त में त्याग और मध्य में उपभोग को रखकर यह भी दर्शाया गया है, कि भोग की शोभा त्याग के मध्य ही है । त्यागमय उपभोग व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर है । देवनागरी वर्णक्रम भी इसे सिद्ध करते हैं - द- धन -प। द = दान, प=परोपकार । अर्थात् धन सदैव दान और परोपकार के मध्य ही सुशोभित होता है ।

आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने इनआदेशों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया है । अपरिग्रह और त्याग के महत्व पर वे जोर

देते हैं । सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए इससे अच्छा और व्याव-
हारिक सिद्धान्त दूसरा नहीं है । गांधी जी के ही सिद्धान्तों को आधार
बनाकर विनोवा भावे और जयप्रकाश नारायण ने सामाजिक सिद्धान्त की
रचना की, जो समाजवाद के अत्यन्त निकट हैं । इन सिद्धान्तों में भूदान-
यज्ञ, ग्रामदान, जीवनदान, सर्वोदय आदि प्रमुख हैं, जिनसे यज्ञ, दान और
त्याग के सामाजिक महत्व पर प्रकाश पड़ता है । दान, त्याग और संन्यास
आदि का व्यक्तिगत जीवन में महत्व तो पहले से ही स्वीकृत था । आधुनिक
युग के विचारकों ने इनके सामाजिक महत्व को भी स्पष्ट किया है । इस
युग में त्याग और अपरिग्रह केवल व्यक्तिगत मोक्ष के साधन नहीं रह गये, अपितु
इन्हें सामाजिक और सार्वजनिक स्वतंत्रता का साधन भी बनाया गया ।
इस प्रकार इन प्रत्ययों का व्यष्टि के स्तर से उठकर समष्टि के स्तर तक पहुंचना
एक विकास का द्योतक है । यह सत्य है कि इनके मौलिक अर्थों में भारी परि-
वर्तन हुआ है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है , यह परिवर्तन लोकहित में
है ।

यज्ञ -

यज्ञों का वर्णन भारतीय वांड्.मय में आदिकाल से मिलता है । वेदों
में अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान दिखाई पड़ता है । इन विभिन्न यज्ञों
के विभिन्न फल होते हैं । यज्ञों के माध्यम से सर्वोच्च उपलब्धि स्वर्ग माना
जाता है । यज्ञ केवल धार्मिक कर्मकाण्ड ही नहीं है, बल्कि इनकी सामाजिक

उपयोगिता भी है । श्री एस०ए०डांगे ने अपने ग्रन्थ- "भारत: आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक" [पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली] में यज्ञ को एक सामाजिक-जीवन की विधा के रूप में चित्रित किया है । उनके अनुसार यज्ञों से सामाजिक समता की स्थापना होती थी । यज्ञ भारतीय आर्यों की जीवन- प्रणाली थे । गृहपति के रूप में अग्नि की स्थापना करके जीवन के समस्त क्रियाकलापों को अग्नि के सम्मुख ही सम्पन्न करना आर्यों की जीवनचर्या थी ।

कालान्तर में वृहत्तर यज्ञों का विधान प्रचलित हुआ । ये यज्ञ सत्र के रूप में अनेक वर्षों तक निरन्तर चलते रहते थे । यज्ञों के निमित्त विभिन्न प्रकार के उपादानों का संग्रह ही आर्यों का सामाजिक-जीवन था । यह एक ओर तो उनके सक्रिय जीवन का साक्षी है और दूसरी ओर विभिन्न लोगों की क्षमता और योग्यता के अनुसार उन्हें विभिन्न कार्यों में संलग्न करने की योजना । लम्बे अन्तराल के बाद जब समाज में.राज्य व्यवस्था कायम हो चुकी थी और जब यजमान प्राय: राजा अथवा कोई वैभव सम्पन्न व्यक्ति ही होता था, तब यज्ञ भौतिक सम्पदा के वितरण का साधन बन गये ।

इस युग में यज्ञों में यजमान के अतिरिक्त ऋत्विक् ब्राह्मण, हव्य की पूर्ति करने वाले वैश्य, समिधा इत्यादि का संग्रह करने वाले तथा अन्य प्रकार की सेवाओं को करने वाले अनेक प्रकार के सहयोगी होते थे, जो

यजमान को यज्ञ का पुण्य प्राप्त कराने के बदले स्वयं के लिए सांसारिक वैभव का उचित अंश प्राप्त करते थे । इस प्रकार यज्ञों से देवता, यजमान, ऋत्विक् और समाज के अन्य वर्ग सबको संतुष्टि मिलती थी । यह वितरण की अद्भुत व्यवस्था थी, जिसमें सूक्ष्म पुण्य से लेकर स्थूल भौतिक-सम्पदा तक का वितरण यथोचित तथा यथायोग्य रूप में सम्पन्न होता था ।

आधुनिक युग में यज्ञों का जो रूप हमारे सामने है, वह लम्बे परिवर्तन का फल है । जब यज्ञ केवल वैभव सम्पन्न यजमानों तक ही सीमित हो गया और उसमें अनेक आडम्बरों का प्रवेश हो गया, जिसके परिणामस्वरूप उनके स्वरूप के साथ-साथ उनकी उपयोगिता में भी परिवर्तन हो गया । प्राचीन भारतीय जीवनविधा का सुन्दर विश्लेषण श्रीपाद अमृत डांगे ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक" भारत आदिम साम्यवाद में दास प्रथा तक" में किया है । उन्होंने यज्ञों को सामाजिक जीवन का एक प्रकार बताया है । आर्यों की जीवन विधि का नाम यज्ञ था, किन्तु आज यज्ञ मात्र एक धार्मिक कृत्य है । यह यज्ञ का विकृत रूप है । मूलतः यज्ञ का उद्देश्य कुछ और ही था । गीता में भी कहा गया है-

> अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्न संभवः ।
> यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म समुद्भवः ।।

यज्ञ ही समस्त सृष्टि का आदि कारण है । यही इस सृष्टि को धारण करने वाली शक्ति है । इन समस्त कथनों का अभिप्राय यही है कि यज्ञ आर्यों

के सामाजिक-जीवन कामूल आधार रहा ।

प्राचीन भारतीय आर्य जीवन में यज्ञों का प्रमुख आधार अग्नि थी । अग्नि को गृहपति भी कहा गया है और प्रत्येक गृह-कुटुम्ब अथवा कबीले में अग्नि का संरक्षण आवश्यक माना जाता था । इस आदि अवस्था में संभवतः वर्ण व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि गृहपति अग्नि की स्थापना किसी एक कुटुम्ब अथवा कबीले के लिये उचित था और दूसरे के लिए अनुचित । कालान्तर में कर्मकाण्ड के साथ यज्ञ को जोड़कर इसे द्विजों तक सीमित कर दिया गया । किसी युग में अनेक विधिनिषेधों का निर्माण हुआ, जिसके फलस्वरूप समाज के कुछ वर्गों को यज्ञ करने का अधिकार मिला और कुछ अन्य वर्ग इस अधिकार से वंचित रह गये । किन्तु इस युग में भी समाज का कोई भी वर्ग यज्ञों से पूर्णतः बहिष्कृत नहीं था । जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया थी, जिससे समाज के प्रायः सभी वर्ग किसी न किसी रूपमेंजुड़े थे । जिनके पास भौतिक सम्पदा थी, वे इसके माध्यम से पारलौकिक पुण्य को प्राप्त करते थे, और जो निर्धन थे, वे इसके माध्यम से लौकिक-जीवन के लिए उपार्जन करते थे ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वेदान्त दर्शन द्वारा स्थापित इन आदर्शों में सामाजिक-जीवन की एक विकसित विधि निहित है । इस विधि में -समता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व जैसे परम मूल्य सहजरूप में सन्निविष्ट हैं, जिनकी प्रतिध्वनि फ्रांस की राज्य क्रान्ति में अठारहवीं शताब्दीमें ।1789। सुनने को मिली ।

1. Ed.S.S. Barlingay & Rajendra Prasad,Indian Philosophical Quarterly,Vol XI No.4
2. K.C. Bhattacharya, Swaraj in Ideas, Vishwa Bharati Journal Vol.XX, 1954, pp 103-114. Reprinted in Indian Philosophical quarterly,Vol XI, No.4 P.383
3. Ibid P.383
4. Ibid P. 384
5. Ibid P. 384

0 0

गीता में समाजवादी आदर्श

भगवद्गीता को वेदान्त -सम्प्रदायों के प्रस्थानत्रय में से एक स्थान दिया गया है । वेदान्त के समस्त आचार्यों ने इस महान ग्रन्थ को अपने प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकार किया है । गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य क्या है ? इस प्रश्न पर आचार्यों में विवाद है । जगद्गुरू शंकराचार्य ज्ञानयोग को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य मानते हैं । आचार्य रामानुज ने गीता के प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में भक्ति-योग को सिद्ध करने का प्रयास किया है । किन्तु इन आचार्यों के प्रयास का उद्देश्य केवल यह था कि गीता जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रयोग अपनी व्याख्यावैचित्र्य के द्वारा अपने सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण के रूप में कर सकें । प्रयास में वे कुछ सीमा तक ही सफल हो सकें । स्पष्ट तथ्य को प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती, इसीलिए गीता को नीतिशास्त्र का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिये भी कोई प्रमाण आवश्यक नहीं है । धर्मसम्मूढ़चित्त अर्जुन को कर्तव्य पालन के लिए प्रेरित करने वाले भगवद्गीता के उपदेश को नैतिक एवं सामाजिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य कुछ समझना स्पष्ट तथ्य पर पर्दा डालना ही कहा जायेगा । गीता को धर्म अथवा दर्शन (तत्वमीमांसा) के साथ जोड़ने के एक दूसरे कारण का उल्लेख डॉ० राधाकृष्णन् ने किया है जिसके अनुसार आत्माभिव्यक्ति के लिए सम्पत्ति एवं सत्ता के महत्व को सिद्धान्ततः स्वीकार करके भी भारतीय संस्कृति में उसे व्यावहारिक महत्व नहीं दिया गया ।[1] आधुनिक युग में महात्मा गांधी का प्रयास इस दिशा में उल्लेख है । उनकी "अनासक्तियोग" नामक गीता की टीका एकमात्र टीका है, जो सामाजिक

प्रणाली के निर्माण के लिए एक सबल दार्शनिक आधार बनने में समर्थ है । अपनी टीका में गांधी जी ने यह प्रदर्शित किया है कि अनासक्तियोग इस बात को स्वीकार करता है कि कर्म किए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती । इसमें विशिष्टता केवल यह जुड़ जाती है, कि कर्म का सम्पादन फल को हेतु मानकर नहीं करना चाहिए । लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रन्थ गीता-रहस्य में गीता को कर्म-योग का प्रवर्तक स्वीकार किया है, जो इस पक्ष में एक सबल प्रमाण है, कि गीता समाज के कर्मक्षेत्र से सम्बद्ध शास्त्र है, परलोक से सम्बद्ध नहीं ।

गीता में जिन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है, उनका अवलोकन करने पर इस बात को और अधिक बल मिलता है, कि गीता वास्तव में समाज दर्शन है, धर्मदर्शन अथवा तत्त्वमीमांसा नहीं ।[2] संन्यास के विषय में कही गयी बातों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है । गीता में वर्णित संन्यास अपना अलग अर्थ रखता है, जो सामान्यतया प्रचलित अर्थ से न केवल भिन्न है, अपितु अधिकांशतः विरुद्ध भी । वास्तविक संन्यासी कर्म का नहीं, अपितु कर्मफल का त्याग करता है- यह है गीता का मत और यदि इस मत को स्वीकार किया जाय, तो संन्यासी सर्वोत्तम सामाजिक कार्यकर्ता माना जायेगा । गीता घोषणा करती है -

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।[3]

कर्मों के फल से अनासक्त योगी अथवा संन्यासी जो कुछ भी कार्य-सम्पादन करेगा, वह समाज तथा मानवता के लिये होगा । सामाजिक

कर्मों का परित्याग सच्चासंन्यास नहीं कहा जा सकता । वह पलायन है । त्याग और त्याग के लिए बल होने पर ही सच्चा संन्यास संभव है । गीता कहती है -

> काम्यानां कर्मणां न्यासः संन्यासं कवयो विदुः ।
> सर्वकर्मफलत्यागं प्रहुस्त्यागं विचक्षणा : ।। [4]

समस्त सांसारिक दु:खों का मूल आसक्ति में निहित है, और अनासक्ति समस्त दु:खों का अकेला निदान है । सच्चा संन्यास स्वार्थपूर्ण कर्मों के त्याग में निहित है, और सच्चा त्याग समस्त कर्मों के फलों का त्याग है । अतएव कर्मफल का त्याग ही संन्यास है, कर्म का त्याग नहीं ।

गीता उपनिषद् आदि भारतीय शास्त्रों के साथ इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि आत्मा और ब्रह्मतत्वतः एक हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् घोषणा करती है कि वह ।ज्ञानी।विश्व।विश्वात्मा। को अपनी आत्मा के रूप में देखता है ।[5] गीता व्यक्ति को सम्पूर्ण मानवता के साथ जोड़ने की दिशा में एक क्रान्ति है, जो आसक्ति से उद्भूत समस्त स्वार्थों को समाप्त करके व्यक्ति को सम्पूर्ण मानवता के साथ जोड़ने का प्रयास करती है । यह सामाजिक संबंधों के मानवीकरण का आदर्श है ।[6] यह ज्ञात हो जाने पर कि मानव जाति के समस्त दु:खों का मूलभूत कारण आसक्ति है, और अनासक्ति ही एक मात्र मार्ग है, जो दु:खों से छुटकारा

दिला सकता है, लोग अनासक्ति का पालन अवश्य करेंगे, और इसके परिणाम-स्वरूप जिस समाज की रचना होगी वह आदर्श समाजवादी समाज होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । विद्वान लेखक डा०एच०एस०सिन्हा ने इस बात को बड़ी स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है कि गीता की समस्या आसक्ति एवं लोभ की शक्तियों से प्रभावित मानव की समस्या है, जो अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य से भटक गया है ।[7] इस समस्या का एकमात्र समाधान अनासक्ति योग को उन्होंने स्वीकार किया है ।

दूसरी ओर आधुनिक काल में, समाजवाद की पृष्ठभूमि में स्थित मूल्यों की मीमांसा भी तीव्रगति से हो रही है । मार्क्स की मान्यता अब खण्डित हो चली है, क्योंकि आधुनिक युग भौतिकवाद को मानने को तैयार नहीं है । बर्ट्रेण्ड रसेल के एक वाक्य का उद्धरण देते हुए डा० ।कु०। एस०एच० दिवेतिया ने अपने लेख " गीता और आधुनिक समाजवाद" में इस बात पर जोर दिया है, कि आधुनिक विज्ञान भी जड़ द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को नहीं मानता ।[8] इसी संदर्भ में आइन्स्टाइन का प्रसिद्ध समीकरण । $e = mc^2$ । भी उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार जड़ द्रव्य शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । ऐसी स्थिति में भौतिकवाद की मान्यता अर्थहीनहो जाती है । निष्कर्ष यही निकलता है कि समाजवाद का आधार भौतिकवाद नहीं हो सकता । अतः इसकी पृष्ठभूमि में स्थित अभौतिक मूल्यों को ही इसका आधार मानना पड़ेगा । ऐसे अनेक अभौतिक मूल्य गीता में प्रतिपादित हैं, जो समाजवाद को आधार प्रदान करने में समर्थ हैं ।

भौतिकवादी समाजवाद भी इन अभौतिक आधारों को मान्यता प्रदान करता है । इसकी पुष्टि स्वयं मार्क्स के विचारों के अध्ययन से होती है । मार्क्सवाद को प्राय: लोग राजनैतिक एवं अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त स्वीकार करते हैं और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अन्य दृष्टिकोणों से किये गये अध्ययन को अनुचित और व्यर्थ प्रयास की भी संज्ञा देते हैं । किन्तु कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जो सिद्ध करते हैं कि मार्क्सवाद वास्तव में नैतिकता का सिद्धान्त हैं । डा० एच०एस० सिन्हा के अनुसार मार्क्सवाद मौलिक रूप से नैतिकता का सिद्धान्त है और दास- कैपिटल अर्थशास्त्रीय छद्मवेश में नीतिशास्त्र का एक ग्रन्थ है । [9]

आसक्ति की आलोचना न केवल गीता ने की है, अपितु मार्क्स ने भी की है । यह वास्तव में एक आश्चर्य जनक तथ्य है कि भौतिकवादी मार्क्स भी बेन्थम तथा मिल के उपयोगितावादी सिद्धान्त का विरोधी है । उसने उपयोगितावाद की आलोचना करते हुए कहा है कि सुखवादी दर्शन समाज के लाभान्वित वर्ग का दर्शन है । [10] आधुनिक युग में इसे विकसित कर बुर्जुआ उपयोगितावाद का नाम दिया गया है । सुखवादी अथवा उपयोगितावादी सिद्धान्तों की आलोचना भगवद्गीता एवं मार्क्स दोनों ही समान रूप से करते हैं । गीता की नैतिकता तो उसके ठीक विरोध में है, क्योंकि सुखवाद (उपयोगितावाद) जहाँ फल को ही सर्वप्रमुख एवं सर्वोच्च स्वीकार करता है, वहीं गीता उस फल को यहाँ तक कि उसकी इच्छा तक को त्याज्य मानती है, क्योंकि ये फल बन्धनकारी हैं तथा कर्तव्य-पालन में बाधक हैं ।

मार्क्सवाद में की गई सुखवाद ॥उपयोगितावाद॥ की आलोचना भी लगभग इन्हीं आधारों पर है । उसके अनुसार सुखवाद ॥उपयोगितावाद॥ अधिकतम सुख को ही अपना आदर्श मानता है, चाहे वह अपना हो अथवा अन्य का । इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उपयोगितावादी किसी भी साधन का प्रयोग वैध बताता है । संभव है इस प्रकार के प्रयास में ऐसे साधनों का प्रयोग हो, जिनसे समाजवाद की स्थापना में बाधा पड़े । पुनश्च सुखवाद पूँजीवाद को उचित मान सकता है, यदि यह उसके लिए हितकर हो और तथ्य तो यह है कि सुखवादी पूँजीवाद को उचित मानते भी हैं । मार्क्सवादी उपयोगितावाद का खण्डन इस आधार पर भी करते हैं, कि यह सिद्धान्त मानवता को सुख का साधन मान लेता है, और यह निश्चय ही नैतिक पतन का द्योतक है ।[11] उपयोगितावाद के लिये अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ही साध्य है, शेष समस्त विश्व की सत्ताएं साधन मात्र हैं । ऐसी स्थिति में मानवता के प्रति उपयोगितावाद का न्यायपूर्ण होना असंभव ही है ।

मार्क्स जब लोभ को धन की लिप्सा के रूप में परिभाषित कर उसकी भर्त्सना करता है, तब वह वस्तुत: गीता के उन सिद्धान्तों के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है जहाँ लोभ, धन, मान, मद, और परिग्रह की ही हेयता और निस्सारता प्रदर्शित की गई है ।[12] विषयों के निरन्तर चिन्तन से लिप्सा उत्पन्न होती है, लिप्सा से क्रमश: काम, क्रोध, मोह, स्मृतिविभ्रम, बुद्धिनाश और सर्वनाश स्वभावत: उत्पन्न होते हैं --

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते । [13]

संगात्संजायेत कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।

क्रोधात्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।

स्मृति भ्रंशादबुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

धन के निरन्तर चिन्तन तथा उसकी प्राप्ति के सतत प्रयास को गीता तथा मार्क्सवाद दोनों ही समान रूप से बुरा मानते हैं । परिग्रह का त्याग करके ही नैतिक जीवन-यापन संभव है । गीता के इस सिद्धान्त को मार्क्सवाद अक्षरशः स्वीकार करता है । मार्क्स इस बात को स्वीकार करता था, कि धन-संग्रह का लोभ मानव को उस पूँजीवाद के साथ बाँध देता है, जो अस्तित्व का अपरिष्कृत रूप है ।[14] वैभव तथा उसके लोभ को गीता और मार्क्सवाद दोनों ही बन्धनकारी स्वीकार करते हैं । तथापि दोनों सिद्धान्तों में निश्चित रूप से गुणात्मक भेद है । गीता अपने सिद्धान्त को पूर्णतया स्पष्ट करती है, जबकि मार्क्स इसे पर्याप्त स्पष्टता नहीं दे पाता । वह केवल इतना ही कहता है कि लोभ हमें पूँजीवादी विचारधारा से जोड़ देता है, जो अनुचित मार्ग है । यह भेद होते हुए भी दोनों सिद्धान्तों में आश्चर्यजनक साम्य है । मार्क्सवादी- नैतिकता पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है, कि यह व्यक्तिगत-सम्पत्ति, लोभ, आसक्ति इत्यादि की निन्दा करते समय गीता के अपरिग्रह और अनासक्ति के आदर्शों को अपने साम्यवादी समाज के निर्माण के लिए एक पूर्वापेक्षा के रूप में स्वीकार

करता है ।[15]मार्क्स द्वारा वर्णित सच्चा साम्यवादी वही हो सकता है, जिसमें गीता द्वारा स्थापित अपरिग्रह और अनासक्ति के गुण हों । गीता की नैतिकता और मार्क्सवादी नैतिकता के बीच यह आश्चर्यजनक समानता है ।

अनासक्ति-पूर्ण कर्तव्य-पालन के सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर सन्देह किया जा सकता है । कुछ आलोचक यह मान सकते हैं, कि मनुष्य के लिए स्वार्थों का पूर्ण त्याग करके कार्य करना संभव नहीं है । मानव-जीवन में निहित पाशविक प्रवृत्ति उसे अनासक्त नहीं होने देगी । किन्तु यह आलोचना असमीचीन है । मानव-जीवन के उदात्त आदर्शों की प्राप्ति के लिये इन्द्रियनिग्रह को गीता के साथ ही मार्क्स ने भी आवश्यक माना है । [16] दोनों ही सिद्धान्त इस बात पर सहमत हैं, कि दुख एवं बन्धन से छुटकारा पाने के लिये मानव-जीवन का उदात्तीकरण अत्यन्त आवश्यक है, और यह तब तक संभव नहीं है, जब तक निष्काम अथवा अनासक्ति के आदर्शों को प्राप्त न कर लिया जाय । अनासक्त अथवा निष्काम होना संभव है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि आसक्ति एवं कामनाओं को समस्त विपन्नता के कारण के रूप में स्थापित किया जाय और साथ ही यह भी स्थापित किया जाय कि इसका एकमात्र समाधान अनासक्ति अथवा निष्कामभाव है ।

गीता द्वारा स्वीकृत कर्मवाद का सिद्धान्त सामान्यतया इस रूप में व्याख्यायित होता है, कि यह मानवतावाद अथवा स्वातंत्र्यवाद के विरुद्ध

है । इस व्याख्या के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि कुछ नियमों से पूर्णतया नियंत्रित है । अतएव मानव-जीवन भी उननियमों का अपवाद नहीं हो सकता । मानव का वर्तमान उसके भूत से तथा भविष्य उसके वर्तमान से नियंत्रित होता है । वर्तमान जीवन में व्यक्ति की जो भी उपलब्धि है, वह उसके संस्कारों के माध्यम से प्राप्त पूर्व-जीवन की कमाई का फल है । ऐसे सिद्धान्त यदि गीता के दर्शन में निहित हैं, तो वह समाजवाद और मानवतावाद से बहुत दूर हो जाता है । मानव-स्वातंत्र्य में विश्वास न करने के कारण यह अमान्य भी प्रतीत होता है ।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कर्मवाद की यही एकमात्र व्याख्या संभव है? अथवा क्या यह व्याख्या कर्मवाद के सही स्वरूप को प्रकट करती है? इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक होगा । वास्तव में कर्मवाद यह नहीं स्वीकारकरता कि मानव जीवन पूर्णरूपेण नियंत्रित है । मनुष्य को अपनी स्वतंत्रेच्छा का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है । गीता इस बात को तो स्वीकार करती है कि मानव, प्रकृति के नियमों को नहीं बदल सकता । मानव ही नहीं ईश्वर भी इस नियम को परिवर्तित नहीं कर सकता । किन्तु ये नियम मानव की इच्छा स्वातंत्र्य का खण्डन नहीं करते । व्यक्ति इन नियमों से संस्कारवश ही बँधता है, संस्कार पूर्वजन्मों के कर्मों का सूक्ष्म परिणाम है, अतः मानव जिससे बँधा है, वह बाह्य नियम नहीं, अपितु स्वयं उसके कर्मों से उत्पन्न आन्तरिक शक्ति है ।

गीता की शिक्षा यही है कि इस नियम को कर्तव्य भाव से स्वीकार करो, फल की लालच से नहीं, अन्यथा निराश होना पड़ेगा, कर्मों का बन्धन भुगतना पड़ेगा । "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।[17] पुनश्च नियतिवाद को समाजवाद का विरोधी नहीं कहा जा सकता । मार्क्स के दर्शन में भी मानव-समाज के विकासकी व्याख्या आर्थिक-नियतिवाद के आधार पर की गई है, जिसके अनुसार आर्थिक-उत्पादन के साधन समाज, संस्कृति एवं चेतना का नियंत्रण करते हैं । अत: यदि गीता में किसी सीमा तक संस्कार- नियतिवाद है भी तो वह समाजवाद के विपरीत नहीं है । स्वातंत्र्य के लिये गीता में मार्क्सवाद की अपेक्षा अधिक अवकाश है ।

कर्मों का चुनाव करने में व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र है, और यदि बुरे परिणाम प्राप्त होते है, तो यह न तो ईश्वर का और न ही प्रकृति का दोष होगा, यह व्यक्ति के अपने चुनाव का दोष होगा । इस चुनाव को कुछ अन्य तथ्य भी प्रभावित करते है, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी । प्रस्तुत परिस्थितियों में व्यक्ति को अपनी सीमा काज्ञान होना आवश्यक है । प्रकृति में व्याप्त नियंत्रण के पाश की चिन्ता छोड़कर उसे अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहिए । वास्तविकता तो यह है, कि स्वतंत्रता के प्रत्यय में सीमा का प्रत्यय अनिवार्यत: जुड़ा होता है । स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं, यदि वह विशिष्ट मान्यताओं से घिरी न हो । अत: यदि व्यक्ति केवल कर्तव्य-चयन तक ही स्वतंत्र है, तो यह कम नहीं है । उसको

स्वतंत्रता की सीमा रेखा विषय-चयन और फल-प्राप्ति के बीच से गुजरती है, जिनमें प्रथम तो उस क्षेत्र के अन्तर्गत है, और द्वितीय उस क्षेत्र से बाहर । अतएव यह मानना कि गीता का कर्मवाद मानवतावादऔर समाजवाद के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, उचित नहीं है । वास्तविकता यह है कि कर्मवाद का सच्चा रूपसमाजवाद की दिशा में प्रगति की प्रेरणा देता है ।

आदर्श सामाजिक-व्यवस्था के संदर्भ में गीता तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बीच पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है । दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि आदर्श समाज में वैभव-लोलुपता, स्वार्थ, व्यक्तिगत-सम्पत्ति आदि के लिये कोई स्थान नहीं मिल सकता । मार्क्स राज्य व्यवस्था का विरोध इस आधार पर करता है कि यह शासक वर्ग एवं जनसामान्य के बीच भेद करता है और इस भेद के माध्यम से शासकों को जनसामान्य से उच्चतर स्वीकार करते हुए शोषण का अधिकार प्रदान करता है । राज्य को समाप्त करने का मार्क्स का सुझाव वास्तव में इसी भेद एवं शोषण को समाप्त करने हेतु था । भेद को समाप्त करके समता की स्थापना करना ऐसा उद्देश्य है, जो मार्क्स के सिद्धान्त को गीता के भेद को समाप्त करके अभेद-अद्वैत की स्थापना के दर्शन के निकट लाकर खड़ा करता है ।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन को मार्क्स समाजवाद की स्थापना के लिए अत्यन्त आवश्यक मानता है । उसके अनुसार यह एक ऐसी बुराई है

जो मानव समाज के यदि समस्त नहीं, तो अधिकांश कष्टों के लिए जिम्मेदार है । मार्क्स इस बुराई को दूर करने का प्रयास करता है । व्यक्तिगत-सम्पत्ति को समाप्त करने के पक्ष में वह अनेक तर्क देता है, किन्तु विशिष्ट बात यह है कि ये तर्क केवल आर्थिक नहीं, अपितु नैतिक आधारों पर भी स्थित हैं ।[18] व्यक्तिगत भौतिक-सम्पदा की आलोचना अन्य अनेक धर्मों में भी नैतिकता के आधार पर की गई है, किन्तु ये आलोचनाएं इतनी सशक्त नहीं सिद्ध हुई कि व्यक्तिगत-सम्पत्ति को समाप्त कर सकें । वे काल्पनिक मात्र रह गयी । मार्क्स ने इसकी जो आलोचना की है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यावहारिक है । मार्क्स इस बात को स्वीकार करता है, कि व्यक्तिगत-सम्पत्ति को समाप्त करने के बाद जिस समाज का निर्माण होता है, वह अपराधी प्रवृत्ति से मुक्त होता है । स्वार्थवश किये जानेवाले अनेक सामाजिक अपराधों का उन्मूलन केवल इसी के द्वारा संभव है ।

मार्क्स के इन विचारों का पूर्वरूप आसानी से भगवद्गीता में खोजा जा सकता है । यह मानना कि गीता आधुनिक सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का समाधान नहीं प्रस्तुत करती, गीता के एकांगी अध्ययन का परिणाम है । गीता के प्रथम श्लोक में ही धृतराष्ट्र के द्वारा संजय से किया गया प्रश्न उसकी स्वार्थपूर्ण दृष्टि का परिचय देता है । तभी तो वह "मामका:" एवं " पाण्डवा:"[19] के बीच भेद करता है । मेरे और

तेरे, का भेद व्यक्तिगत-सम्पत्ति की भावना कापरिचायक है । गीता में कौरवों को "लोभ" की शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । 20 गीता में लोभ तथा व्यक्तिगत स्वार्थ की निन्दा की गयी है । आलोचना का आधार केवल नैतिक है । मानवतावादी प्रभावों के कारण ही गीता "लोभोपहत चेतसः" को बुरा मानती है । गीता वैयक्तिक उपलब्धियों की चिन्ता को कृपणता का लक्षण मानती है । स्वार्थरत व्यक्ति मानव-समाज का सदस्य नहीं हो सकता है । वह मानवता के लिये घातक है । गीता व्यक्तिगत वैभव की आलोचना उन्हीं नैतिक आधारों पर करती है, जिनपर मार्क्स की आलोचना आधारित देखी गयी है । गीता की आलोचना उन आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में नहीं है, जिन्हें व्यावहारिक बनाया जा सके । अन्य धर्मों द्वारा इस पक्ष में दिए गए तर्क भले ही अव्यावहारिक हों, किन्तु गीता द्वारा दिये गये तर्क निश्चय ही व्यावहारिक हैं, क्योंकि इनकी व्यावहारिकता का परीक्षण मार्क्स के सिद्धान्त के लिये किया जा चुका है, जो उन्हीं आधारों पर टिके हुए हैं, जिनपर गीता का सिद्धान्त । गीता और मार्क्सवाद दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं, कि मानव का अधिकार वहीं तक सीमित हैं, जहाँ तक उसकी आवश्यकताएं हैं । अतिरिक्त-मूल्य का उपभोग दोनों के अनुसार बुरा है । अतिरिक्त -मूल्य के उपभोग पर रोक लगा देने पर व्यक्तिगत-सम्पत्ति का संचय स्वयमेव नष्ट हो जायेगा, क्योंकि वही तो इसकी जड़ है । अतः गीता और मार्क्सवाद दोनों एक स्वर से व्यक्तिगत-सम्पत्ति की निन्दा करते हैं । स्वार्थपूर्ण दृष्टि से समाज का अहित करते हुए अर्थसंचय करने वाले परिग्रही की गीता उसी प्रकार निन्दा

करती है जिस प्रकार व्यक्तिगत-सम्पत्ति के आधार पर सर्वहारा वर्ग का शोषण करने वालों की निन्दा कार्लमार्क्स ने की है ।

आशापाश शतैर्बद्धा: कामक्रोधपरायणा: ।
ईहन्तेकामभोमार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।। [2]

यहाँ "अन्यायेनार्थसंचयान्" का स्पष्ट अर्थ है समाज का शोषण करके व्यक्तिगत- सम्पत्ति का संचय । इस प्रसंग में गीता आसुरी प्रवृत्ति के व्यक्तियों का जो चित्र प्रस्तुत करती है, वह मार्क्स द्वारा वर्णित पूँजीपति के चित्र से कथमपि भिन्न नहीं है । मार्क्स के वर्णन में पूँजीपति, का कार्य भी गरीब मजदूरों का शोषण करके अतिरिक्त-मूल्य के माध्यम से व्यक्तिगत सम्पत्ति- एकत्रित करना है । मार्क्स का पूँजीपति और गीता का अन्याय पूर्वक अर्थसंचय कर्ता, एक ही व्यक्ति है । दोनों ही सिद्धान्तों में ऐसे व्यक्ति की कटु आलोचना की गयी है ।

गीता की यह मान्यता है कि लोभ की प्रवृत्ति आसक्ति से उत्पन्न होती है और आसक्ति सकारण होने के कारण समाप्त की जा सकती है, अत: अपरिग्रह और अनासक्ति की प्राप्ति के लिए आसक्ति के कारण को समाप्त करना चाहिए । क्योंकि आसक्ति के रहते सामाजिक उन्नति एवं समता की स्थापना असंभव है और आसक्ति के कारण के उन्मूलन में ही मानव समाज का हित सन्निहित है ।

मार्क्स यह मानता है, कि पूँजीपति वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप नष्ट हो जायेगा, उसकी लोभ की प्रवृत्ति का नाश हो जायेगा और इसके द्वारा सामाजिक उन्नति एवं समता संभव होंगे । वर्ग-विरोध की बात दोनों ही सिद्धान्तों में समान है । अन्तर केवल इतना है कि जहाँ मार्क्स के सिद्धान्त में यह बाह्य युद्ध का रूप लेता है, वहीं गीता इसे आन्तरिक युद्ध मानती है । आसक्ति एवं अनासक्ति के वर्गों में स्वभावतः विद्यमान आन्तरिक विरोध अन्ततोगत्वा अनासक्ति की विजय के रूप में प्रकट होकर सामाजिक उन्नति को सम्पन्न करेगा । यहाँ गीता का सिद्धान्त मार्क्सवादी समाजवाद का पूर्ववर्ती बनने की व्यावहारिक सामर्थ्य रखता है । विशेषतः वह विकासवादी- समाजवाद के समतुल्य दिखाई पड़ता है ।

गीता इस बात को स्वीकार करती है कि व्यक्ति अपने सच्चे-व्यक्तित्व को तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह वैयक्तिक स्वार्थों का त्याग करके सामाजिक कार्यों में स्वयं को संलग्न करें । इस तथ्य को हेगल, ब्रेडले और ग्रीन आदि अनेक पूर्णतावादियों ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । "व्यक्ति का समाज के प्रति क्या कर्तव्य है?" इस प्रश्न के उत्तर के लिये गीता ने समाज में चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था की है । इसी वर्ण-धर्म के आधार पर गीता प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक-उत्तरदायित्व का निर्धारण करती है । समाज का इस रूप में विभाजन बाह्य रूप से समाजवाद विरोधी कार्य प्रतीत होता है । किन्तु इसके आन्तरिक अनुशीलन और सम्यक् विवेचन से इसकी वास्तविक

उपादेयता प्रकट होती है । गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है-

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः ।
> तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। 22

अर्थात् चार वर्णों में समाज के विभाजन का व्यवस्थापक मैं स्वयं हूँ । इस विभाजन की एक समाजशास्त्रीय आवश्यकता है । आदिकाल में व्यक्ति के कर्तव्य अविभक्त थे । कोई भी मनुष्य भोजन के प्रबन्ध के अतिरिक्त और कुछ करता ही न था । सभ्यता के विकास के साथ व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्य विभाजित होते जाते हैं । 23 भारत में भी जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया, कार्यों के नये-नये रूप सामने आते गये, समाज की जटिलता बढ़ती गयी, और स्थिति यहाँ तक पहुँची कि किसी भी अकेले मनुष्य के लिए समस्त कार्यों को कर पाना संभव न रहा । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि गुण और कर्म के आधार पर समाज का विभाजन किया जाय । और प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता एवं क्षमता के अनुसार ही कार्यों के प्रकार एवं मात्रा निश्चित की जाए । भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था की स्थापना इसी के परिणामस्वरूप संभव हुई । अपने कार्य के अनुरूप समाज में अपना स्थान चुनकर व्यक्ति अधिक आसानी और कुशलता से जीवन-यापन एवं समाज सेवा कर सकता है । इस युग में भी यह व्यवस्था लोगों के सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है । अनेक समाज शास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया है कि समाज के सर्वांगीण विकास के लिये उसके अन्तर्गत इस तरह

यदि किसी समाज को पूर्णतया इकाई के रूप में रखा जाय जिसमें किसी भी प्रकार की भिन्नता न हो तो उस समाज का समुचित विकास असंभव होगा। यंत्रमानव (Robot) का युग हमारे सम्मुख है। इस युग में वह (यंत्र-मानव) एक समय में एक ही गति से तथा एक ही प्रकार के कार्य कर सकेगा। सम्पूर्ण यंत्र-मानव समाज पूर्णतया नियंत्रित होगा, स्वतंत्रता एवं चुनाव के लिए कोई स्थान न होगा, किन्तु वह तो यंत्र-मानव का समाज होगा। मानव समाज के लिये आवश्यक है- स्वतंत्रता तथा चयन। यांत्रिकता तथा पूर्णएकरूपता मानव-समाज से मानवता को छीन लेती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य की रुचि एवं क्षमता में अन्तर होता है। इस अन्तर के द्वारा ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्यक्तिगत भेद (Individual difference) के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर गीता में गुण और कर्म के आधार पर किया गया सामाजिक-विभाजन युक्तियुक्त सिद्ध होता है। यह विभाजन व्यावहारिक उपयोगिता के अनुरूप है, अतः इसकी आवश्यकता स्वीकार की गयी।

गीता इसी व्यक्तिगत भेद के आधार पर स्वधर्म का निर्धारण करती है।[24] स्वधर्म का पालन करके ही व्यक्ति सामाजिक उन्नति में योगदान कर सकता है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति का स्वधर्म ही उसका सामाजिक कर्तव्य है। स्वधर्म के पालन पर बल देते हुए गीता कहती है कि गुणरहित न होने पर ही इसका पालन करना चाहिए -

श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह: ।।[25]

गुण और कर्म के द्वारा नियत किये गये स्वधर्म का पालन प्राणोत्सर्ग करके भी करना चाहिए । स्वभाव और गुण के प्रतिकूल कर्म भयावह कहे गए हैं । ये व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक हैं । उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि स्वधर्म का पालन सामाजिक दायित्व के निर्वाह के लिए आवश्यक है ।

वर्ण-व्यवस्था के पक्ष में एक दूसरी युक्ति भी दी जाती है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य का उद्देश्य मानवता की सेवा करना है ।[26] जब व्यक्ति मानवता की सेवा के अर्थ में अपने कर्मों को प्रतिपादित करता है, तब यह विभाजन उचित प्रमाणित होता है । व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से अपने स्वधर्म का चयन एवं सम्पादन करता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कर्म उसकी सामाजिक स्थिति का बोध नहीं करा सकते । किन्तु यदि इन कर्मों का संबंध आर्थिक मूल्यों से जोड़ा जाय अथवा इन्हें-मानवता की सेवा न मानकर व्यक्तिगत उपलब्धियों के लिए किए जाने वाले कर्म माना जाय, तब निश्चय ही यह विभाजन अनुपयुक्त एवं अनैतिक कहा जायेगा । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले समस्त कर्म मानवता की सेवा में अर्पित होते हैं । आर्थिक-मूल्यों से इनका संबंध अनुचित है, और ऐसी स्थिति में वर्ण-व्यवस्था द्वारा किया गया सामाजिक विभाजन एक पूर्ण नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य होना चाहिए । वर्ण-व्यवस्था किसी न किसी रूप में जाने-अनजाने चाहे-

अनचाहे प्रत्येक समाज में पायी जाती है और शायद यह समाज की आवश्यक विशेषता है, अथवा यह समाज के स्वरूप में ही निहित है ।

समाजवादी सिद्धान्तों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि समाज का वर्गीकरण करना अनुचित है । साम्यवादी विचारक किसी प्रकार के सामाजिक विभाजन को व्यक्तिगत-सम्पत्ति के शासन की संज्ञा देते हैं ।[27] किन्तु जिस सामाजिक विभाजन की आलोचना में समाज-वादियों ने ये कथन किए हैं, ये आलोचनाएं पाश्चात्य -जगत के वर्ग-विभाजन अथवा आधुनिक भारतीय समाज की जाति-प्रथा पर लागू हो सकती है, जो कि वर्ण व्यवस्था का कुत्सित रूप है । जाति प्रथा में ये विभाजन क्रमशः आर्थिक-समृद्धि और जन्म के आधार पर किए गए हैं । ये आधार कृत्रिम और अप्राकृतिक हैं । किन्तु वर्ण-व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप पर इन आलोचनाओं को नहीं लागू किया जा सकता । गीता द्वारा प्रतिपादित गुण-कर्म के आधार पर किया गया विभाजन अत्यन्त स्वाभाविक है । यह मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय तथ्यों द्वारा प्रमाणित होता है । मनोविज्ञान को व्यक्तिगत -भेद तथा समाजशास्त्र के अनेकविध-समाज के सिद्धान्त गीता द्वारा प्रतिपादित विभाजन को युक्तियुक्त सिद्ध करते हैं ।

वास्तविकता तो यह है, कि गीता द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था तथा समाजवाद द्वारा स्वीकृत वर्गहीन-समाज के सिद्धान्तों में कोई

तात्त्विक विरोध नहीं है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन सम्पूर्ण समाज के प्रति समर्पण भाव से करे तो स्वार्थों का टकराव नहीं हो सकता ।[28] मार्क्स द्वारा की गई आलोचना केवल स्वार्थी व्यक्तियों के पूँजीवादी समाज के लिये उपयुक्त है । मार्क्स ने जिस समाज का अवलोकन वर्णन एवं नराकरण किया है, वह लोभ और स्वार्थ की प्रवृत्तियों से परिपूर्ण था । उसने धर्म जैसी किसी नियन्ता शक्ति को मान्यता नहीं दी थी। अत: उसके पास वर्ग-संघर्ष और वर्गहीन समाज की स्थापना के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न था , जिससे वह समाज को प्रभावित कर सामाजिक उन्नति के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष जैसे अनिष्ट को दूर रख सकता । उसके विचारों का वर्ग-विहीन समाज केवल विचारों तक ही सीमित रह गया । अभी तक कोई भी समाजवादी राष्ट्र इसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने में सफल नहीं हो सका है । तथाकथित साम्यवादी राष्ट्रों, सोवियत रूस और चीन में भी समाज के विभाजन का एक अथवा दूसरा रूप अब भी विद्यमान है । रूसी नेता गोर्वाच्योव का सामाजिक पुनर्रचना का सिद्धान्त । पेरेस्ट्रोइका । इस ओर बढ़ता कदम है । किन्तु यदि मार्क्स का आदर्श वर्ग विहीन-समाज व्यवहारिक बना दिया जाए, तब भी सामाजिक-सुसंगति के लिए स्वधर्म के सिद्धान्त के आधार पर समाज का विभाजन आवश्यक होगा ।[29] यदि मनोविज्ञान का व्यक्तिगत-भेद का सिद्धान्त तथ्यपरक है तो अवश्य ही व्यक्तियों की रुचि , स्वभाव और क्षमता में भेद होगा और यह भेद उनके कार्यक्षेत्र के भेद के रूप में प्रकट होगा । एक क्षेत्र के कुशल व्यक्ति को यदि किसी दूसरे विपरीत क्षेत्र में लगा दिया जाय, तो यह निश्चित ही समाज के लिये हानिकर

होगा । किसी भी एक क्षेत्र अथवा व्यक्ति में आर्थिक-राजनैतिक शक्ति केन्द्रित करना मार्क्स के अनुसार सामाजिक-अन्याय है, किन्तु इस अन्याय को समाप्त करने के लिये मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का जो मार्ग चुना, वह इससे भी भयंकर है ।

निष्कर्ष यही निकलता है कि मार्क्सवाद में जिन आदर्शों को स्वीकार किया गया है, वे वही आदर्श हैं, जिन्हें भगवद्‌गीता में भी प्रतिपादित किया गया था । वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करने के कारण गीता के सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्तों से अलग प्रतीत होते हैं, किन्तु यह प्रतीतिमात्र है । वास्तव में वर्ग विहीन समाज एवं वर्ण-व्यवस्था से नियंत्रित समाज में कोई विरोध नहीं है । वर्ण-व्यवस्था वर्गविहीन समाज में अपनी उपयोगिता कायम रखती है । यह किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में पायी जाती है, और प्रत्येक समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भी है । वर्ग-संघर्ष आदि कुछ अमानवीय दोष मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के साथ जुड़े हैं, जिनका निराकरण गीता में प्रतिपादित आदेशों को अपनाकर ही किया जा सकता है । गीता के आदर्श अनासक्ति योग की साधना, वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप और स्वधर्म का सच्चा विचार वर्ग संघर्ष की समस्या का समाधान करने में समर्थ हैं । इन सिद्धान्तों का वैज्ञानिक समाजवाद से जो भी विरोध प्रतीत होता है, उसका कारण है मार्क्स का व्यक्ति को व्यष्टि मात्र समझना । गीता व्यक्ति को सम्पूर्ण मानवता का

प्रतिनिधि मानता है । इसीलिए वह अपने समाजवादी सिद्धान्तों के साथ वर्णव्यवस्थादि की सुसंगति स्थापित करने में समर्थ रही । मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद अपनी इसी कमी के कारण वर्ग-संघर्ष के दलदल में फँस गया है । इससे निकलकर बाहर जाने में उसको सहायता केवल गीता में निहित वेदान्त के आदर्श ही कर सकते हैं ।

सन्दर्भ -

1. Eastern Religion & Western Thought, S. Radhakrishnan P.55.

2. H. S. Sinha, Communism & Gita, concept publishing company, Delhi, 1979, P.44.

3. भगवद्गीता, अध्याय 6, श्लोक-1

4. वही, अध्याय-18, श्लोक-2

5. बृहदारण्यक 4, 4-23

6. H. S. Sinha, Ibid, P. 49.

7. Ibid, P.61.

8. Dr. (Miss) S. H. Divatia, Gita & Modern socialism Journal of the M. S. University of Baroda Vol. XXIX No. 1 P.87

9. Robert C. Tucker, Philosophy & Myth in Karl Marx, P. 13

10. द्रष्टव्य, एच0एस0सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 65

11. एच0एस0सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 10

12. वही पृष्ठ 13-14

13. भगवदगीता, अध्याय-2, श्लोक 62-63
14. एच0एस0सिन्हा ,उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 276
15. वही, पृ0 34
16. वही, पृ0 68
17. भगवदगीता, अध्याय-2, श्लोक-47
18. एच0एस0सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 116
19. भगवदगीता, अध्याय-1, श्लोक-1
20. एच0एस0 सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 130
21. भगवदगीता, अध्याय-16, श्लोक 12
22. वही, अध्याय-4, श्लोक 13
23. एच0एस0 सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 155.
24. वही, पृ0 158
25. भगवदगीता, अध्याय-3, श्लोक-35
26. एच0एस0सिन्हा,उपरिउद्धृत ग्रन्थ,पृ0 160
27. हिस्टारिकल मैटिरियलिज्म; डी0चेस्नोकोव, पृ0 202
28. एच0एस0सिन्हा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ,पृ0 173
29. वही, पृ0 173

0

तृतीय खण्ड

आधुनिक वेदान्तियों द्वारा समाजवाद का विवेचन

अध्याय 4- स्वामी विवेकानन्द

अध्याय 5- स्वामी रामतीर्थ

अध्याय 6- श्री अरविन्द

अध्याय 7- स्वामी करपात्री

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी सन् 1863 में हुआ था, तथा देहावसान 4 जुलाई सन् 1902 को । उनके इस संक्षिप्त जीवन-काल के पूर्व ही कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंजेल्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो का प्रकाशन करके तथा अन्य अनेक पुस्तकें लिखकर वैज्ञानिक समाजवाद की आधारशिला स्थापित कर दी थी । स्वामी जी के विचारों का इस दृष्टिकोण से परिशीलन करने के पूर्व एक प्रश्न उठता है, कि क्या वे वैज्ञानिक-समाजवाद के साहित्य तथा विचार प्रणाली से अवगत थे? उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका का भ्रमण किया था, अनेक विद्वानों और विचारकों से मुलाकातें की थी, तथा स्वयं को समाजवादी कहते थे । इससे यह प्रतीत होता है कि वे समाजवादियों, उनके क्रिया कलापों तथा विचारों से परिचित थे । हमें परीक्षण करना होगा कि क्या कोई आन्तर अथवा बाह्य प्रमाण इस पक्ष में दिया जा सकता है ?

कुछ दशकों पूर्व "कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के समाजवादी विचारों का उल्लेख किया गया है । इस पुस्तक में उन्होंने घोषणा की है कि " मैं समाजवादी हूँ "।[1] यद्यपि इस पुस्तक के अधिकांश पाठकों ने इस बात का उल्लेख किया है कि इस प्रसंग में स्वामीजी के विचारों का अतिरंजित

चित्रण किया गया है । किन्तु इसमें दो राय नहीं कि वे अराजकतावाद, उच्छेदवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद जैसे पाश्चात्य आन्दोलनों से परिचत थे, और पेरिस अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में पीटर क्रोपात्किन जैसे विचारकों से उनका साक्षात्कार भी हो चुका था । [2]

विवेकानन्द के जीवनकाल में समाजवादी आन्दोलन अपनी बाल्यावस्था में था, इसलिए उन्हें समाजवादी राज्य के वास्तविक स्वरूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका । किन्तु यह बात तो प्रमाणित है कि उन्हें इन आन्दोलनों की भावी सफलता में पूर्ण विश्वास था । वे अपूर्व भविष्यद्रष्टा थे और उन्होंने घोषणा की थी कि शक्ति का वास्तविक स्रोत जनसमूह है । [3] उनकी यह घोषणा उनके समाजवादी होने का एक आन्तरप्रमाण है । उनकी दृष्टि में शूद्र ही भारत के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस देश के लिये उन (शूद्रों) का उन्नयन ही समाजवाद है । स्वामीजी के इन विचारों में स्पष्ट झलक मिलती है कि वे समाजवाद के आदर्शों से प्रभावित थे । सन्त तथा पापी, धनी तथा निर्धन, श्वेत तथा श्याम, शासक तथा शासित सबके प्रति उनका दृष्टिकोण समतावादी था । ये आन्तर प्रमाण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि स्वामी विवेकानन्द समाजवादी विचार प्रणाली से परिचित थे ।

कतिपय विचारकों ने आलोचना करते हुए कहा है कि स्वामी विवेकानन्द के पास कोई ठोस समाजवादी विचार नहीं थे, प्रायः वे समाजवाद के अभिप्राय को लेकर अस्पष्ट विचार प्रकट करते थे । यह एक

ऐतिहासिक तथ्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता, कि विवेकानन्द के जीवन-काल तक कोई भी समाजवादी राज्य स्थापित नहीं हो सका था, अस्तु इन आदर्शों का वास्तविकीकरण नहीं हो सका था, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वामी जी इन आदर्शों से भी अनभिज्ञ थे, समाजवाद से उनका क्या अभिप्राय था? इसका विश्लेषण करने पर हम यह जान सकते हैं कि क्या वास्तव में वे इन विचारों से परिचित थे या नहीं । समाजवाद का विरोध उन्होंने पूँजीवाद से न दिखलाकर व्यक्तिवाद से दिखलाया है । निम्नलिखित रूप में समाजवाद की परिभाषा उन्होंने दी है-" वह सिद्धान्त जो सामाजिक श्रेष्ठता के सम्मुख वैयक्तिक स्वातंत्र्य को बलिदान करता है, समाजवाद कहलता है, जबकि वह जो व्यक्ति के हितों का पक्षधर है, व्यक्तिवाद कहलाता है ।[4]

महान अर्थशास्त्री वी0के0आर0वी0 राव ने स्वामी जी को वेदान्ती समाजवाद का मसीहा कहा है । उनके अनुसार स्वामी जी का व्यवहारिक वेदान्त (Practical Vedanta) वास्तव में समाजवाद ही है ।[5]

पितृ देवो भव", "मातृ देवो भव" जैसे शास्त्रीय आदेशों को नवीन रूप देने वाला वह महान सन्त, जब दरिद्रता एवं अज्ञान-ग्रस्त भारतीय जनता की ओर संकेत करते हुए दरिद्र देवो भव, मूर्खदेवो भव का आदेश देता है,[6] तो क्या यह स्पष्टतः समाजवाद का रूप नहीं ले लेता । स्वामी जी निश्चय ही समाजवाद को मानते थे । उनका समाजवाद गरीबों को उकसा कर क्रान्ति कराने वाला न होकर धनवानों को त्याग की

शिक्षा देने वाला है । उच्चवर्ग को नीचे ढकेलने के स्थान पर स्वामी जी की व्यवस्था में निम्नवर्ग को ऊपर उठाने का मार्ग सुझाया गया है ।

स्वामी विवेकानन्द कृत समाजवाद की परिभाषा से यह आशय प्रकट होता है कि उनका समाजवाद व्यक्ति के अधिकारों एवं सुविधाओं के परित्याग तथा कर्तव्यों एवं सेवाओं के सम्पादन में निहित है । स्पष्टत: यह समाजवाद मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की अपेक्षा जो समाज के समस्त सदस्यों के समान अधिकार मात्र पर अधिक बल देता है, मानवतावाद के अधिक निकट है । मार्क्स के वैज्ञानिकसमाजवाद की अपेक्षा विवेकानन्द का समाजवाद श्रेष्ठतर है, क्योंकि अधिकारों की रक्षा तो कर्तव्यों के पालन द्वारा ही संभव है । केवल अधिकार अरक्षित रहते हैं । अस्तु विवेकानन्द के सिद्धान्तों का आधार मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार की अपेक्षा पुष्टतर है ।

विवेकानन्द ने समाज के विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति का विवेचन किया है, जो कालान्तर में जाति में परिवर्तित हो गए । एक वर्ग ने उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया । एक अन्य वर्ग ने उनकी रक्षा का भार वहन किया तथा एक अन्य वर्ग ने उन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा उनका विक्रय करने का कार्य संभाला । द्वितीय तथा तृतीय वर्ग ने वस्तुओं से होने वाले लाभ का अधिकांश स्वयं ले लिया तथा वे लोग जो उन वस्तुओं के वास्तविक उत्पादक थे, अपने उचित अंश से वंचित रहे । इस प्रकार रक्षा करने वाला वर्ग राजा या क्षत्रिय

कहलाया, इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाला वर्ग वाणिक् वर्ग बना । इन दोनों वर्गों ने अपने परिश्रम से कुछ भी नहीं उत्पन्न किया, किन्तु ये दूसरों के श्रम का अधिकतम लाभ लेते रहे । कालक्रम के अनुसार ये संबंध जटिलतर होते गए, और इस प्रकार हमारा जटिल आधुनिक समाज बना ।

भारतीय समाज ऐसे चार वर्णों के विभाजन पर आधारित है, जो एक सामाजिक साम्यावस्था को प्राप्त कर चुके हैं । इस समाज में कमजोर वर्ग के लिये एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा बनी रहती है, जबकि यूरोपीय समाजों में सबल और निर्बल के बीच अनवरत संघर्ष जारी रहता है । इस संघर्ष में निश्चित रूप से सबल की विजय होती है । विवेकानन्द ने इस बात को बलपूर्वक कहा है कि कुछ मामलों में भारतीय वर्णव्यवस्था यूरोपीय वर्ग प्रथा से श्रेष्ठतर है । वे अनेक वर्णों अथवा वर्गों के पक्षधर थे, क्योंकि इस प्रकार के विभाजन सामाजिक उन्नति के आधार हैं । किन्तु वे जातिप्रथा के पक्ष में नहीं थे । श्रम-विभाजन तो आवश्यक है, क्योंकि कोई भी अकेला व्यक्ति समस्त प्रकार के कार्य नहीं कर सकता । किन्तु इस कार्य के आधार पर एक वर्ग दूसरे वर्ग की अपेक्षा हेय अथवा श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता । स्वामीजी ने कहा है कि मनुष्यों का एक छोटा समूह सभी कार्यों को नहीं कर सकता । विश्व की अनन्त शक्ति का नियंत्रण थोड़े लोगों के द्वारा संभव नहीं है । यहाँ स्पष्ट रूप से वह बाध्यता प्रकट होती है, जिसके वशीभूत होकर श्रम का अथवा वर्णों का विभाजन किया

गया था ।[7]भारतीय वर्ण विभाजन श्रम परआधारित है अतः यह पूर्णतः निर्दोष न होते हुए भी यूरोपीय समाज के वर्ग-भेद से अच्छा है । [8]

स्वामी जी की दृष्टि में धर्म जातिप्रथा के विरुद्ध है । वंश परम्परागत व्यापार समूह तथा सामाजिक रीतिरिवाज पर ही जाति-प्रथा आधारित है । भारत के समस्त महान उपदेशकों ने जातिप्रथा के उन्मूलन पर बल दिया है । किन्तु सामाजिक रीतिरिवाज के रूप में यह उपयोगी तथा आवश्यक है । अपने वास्तविक स्वरूप में वर्ण-व्यवस्था ने लंबे काल तक भली भाँति लोगों की सेवा की है, किन्तु कालान्तर में जातिप्रथा की कठोरताओं के प्रवेश से यह अपवित्र हो गयी । स्वामी विवेका-नन्द का दृष्टिकोण वर्णव्यवस्था के केवल वास्तविक स्वरूप के लिये ही सत्य है, कालान्तर में रूपान्तरित हुए दूषित रूप के लिये नहीं । अपने इन विचारों के कारण स्वामी विवेकानन्द अनेक आलोचनाओं के पात्र बने । उन्हें परम्परावादी भी कहा गया है । [9] किन्तु ये आलोचनाएं अनभिज्ञता-पूर्ण हैं । केवल एक अंश पर आधारित आलोचना एकांगी होती है । समग्र दर्शन को दृष्टि में रखकर ही समुचित आलोचना संभव है ।

विवेकानन्द एक महान राष्ट्रवादी थे । अपने परतंत्र राष्ट्र को संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की समानता में लाने के लिये उन्होंने प्रयास किया । उन्होंने भारतभूमि की विगत महानता का गुणगान किया, तथा यह सिद्ध कर दिखाया कि वह विश्व का सर्वोत्तम सभ्य देश रहा है । उन्होंने

कहा है कि हमारी इस पवित्र भूमि पर बर्बर विजेताओं की लहरों पर लहरें आती रही हैं, [10] विश्व में सर्वाधिक कष्ट युक्त भूमि होते हुए भी भारत ने अपनी मौलिकता का परित्याग नहीं किया। उनकी देश-भक्ति की भावना निश्चित रूप से सराहनीय है। उनके मत में भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु है। भारत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को समस्त विश्व में आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है। उनका कथन है कि आज हम पाते हैं कि हमारे विचार भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि हमारे चाहे अनचाहे वे बाहर पहुंच रहे हैं। अन्य देशों के साहित्यों में प्रवेश कर रहे हैं, अनेक देशों में अपना स्थान बना रहे हैं तथा कुछ तो नियंत्रण करने एवं आदेश देने की स्थिति में पहुंच रहे हैं। [11]

वेदान्त सम्प्रदाय के अन्य संन्यासियों से अलग रह कर स्वामी जी ने वैयक्तिक मोक्ष एवं स्वतंत्रता के लिये प्रयास नहीं किया। उन्होंने समस्त मानव-जाति के मोक्ष तथा मानवता की स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न किया। उनका उद्देश्य था निम्नतम को उच्चतम की स्थिति में पहुंचाना। अपने जीवन-काल में वे अपने शब्दों के माध्यम से गरीबों की भलाई के लिए सतत प्रयास करते रहे। उन्होंने कहा है कि एक ओर आदर्श ब्राह्मण है और दूसरी ओर चाण्डाल। हमारा सम्पूर्ण कर्तव्य है, चाण्डाल का ब्राह्मण तक उन्नयन। [12] स्वामी विवेकानन्द ने यह दिखाया है कि हमारे प्राचीन शास्त्र भी शनैः शनैः शूद्रों को अधिक सुविधा देने की

दिशा में अग्रसर होते हैं । प्रथम स्तरपर शूद्रों को वेद का श्रवण निषिद्ध है, द्वितीय स्तर परउन्हें उच्चतर शिक्षा का निषेध किया गया है, किन्तु यह भी आदेश है कि उन्हें परेशान न किया जाय । तृतीय स्तर पर यह कहा गया है, कि यदि शूद्र ब्राह्मणों के नियमों एवं रीतिरिवाजों का पालन करना चाहें तो उन्हें प्रोत्साहित किया जाय । [13]यह स्वामी विवेकानन्द के अनुसार विकास की प्रक्रिया है, और उन्होंने ठीक ही कहा है कि वास्तविक समाजवाद की स्थापना विकास के द्वारा संभव है, क्रान्ति के द्वारा नहीं । यदि भारत में शूद्रों की स्थिति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, ब्राह्मणों की स्थिति के समान हो जाय तो वह पूर्ण समाजवादी राष्ट्र बन जायेगा ।

वेदान्त दर्शन में व्यवहृत आत्म-ज्ञान के आदर्श को स्वामी विवेकानन्द ने सामाजिक उद्देश्य से प्रयुक्त किया है । आत्मज्ञान को वैयक्तिक मुक्ति के अर्थ में समझना एक संकुचित दृष्टि कापरिणाम है । सच्चा आत्मज्ञानी तो वह है, जो समस्त विश्व को भेदों से रहित एकाकार देखताहै । इस कोटि का आत्मज्ञानी ही आदर्श समाजवादी है । उसके लिये राजा और भिखारी, ब्राह्मण और शूद्र में कोई अन्तर नहीं होता । स्वामी जी वास्तविक संन्यासी उसे मानते हैं, जो दूसरों की भलाई में संलग्नहो । उनके अनुसार वास्तविक त्याग तो मृत्यु -प्रेम है । किन्तु इसका अर्थ आत्महत्या नहीं है । त्यागी ही वास्तविक संन्यासी है, और दूसरों की भलाई में सतत संलग्न रहना ही सच्चा त्याग । त्याग को मृत्युप्रेम मानने का स्वामी जी का तात्पर्य है कि

व्यक्ति मरणशील है, अतः मृत्यु किसी शुभ उद्देश्य के लिये होनी चाहिए। हमारा सारा कार्य-कलाप, खाना-पीना जो कुछ भी हम करते हैं- आत्म-बलिदान की ओर बढ़ रहा हो।[14] यह शुभ उद्देश्य जिसके लिए उन्होंने आत्म-बलिदान तक को उचित एवं आवश्यक माना है, समाज एवं मानवता की सेवा के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। जन्म मृत्यु के चक्र से बचने की वैयक्तिक-मुक्ति अथवा किसी भी अन्य अर्थ में इसे समझना असमीचीन है। वास्तविकता तो यह है कि समाज सेवा तथा वैयक्तिक मुक्ति दो विरोधी मूल्य नहीं है। लोकसंग्रह के द्वारा भी मुक्ति संभव है, और इस रूप में दोनों एक दूसरे से संबद्ध मूल्य है। इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि " हम अपने शरीर का पोषण भोजन से करते हैं किन्तु इसमें कोई अच्छाई नहीं है, यदि हम इसे दूसरों के हित में बलिदान न कर दें। हम अपने मस्तिष्क का पोषण पुस्तकों के अध्ययन से करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई अच्छाई नहीं है यदि हम इसे सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिये बलिदान न कर दें। अपनी अल्प आत्मा की सन्तुष्टि की अपेक्षा अपने लाखों भाइयों की सन्तुष्टि हमारे लिये अधिक श्रेयस्कर है।[15] अतएव हम यह देखते हैं कि स्वामी जी की दृष्टि में आत्मज्ञानी, सन्त, संन्यासी एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं, न कि समाज का बोझ। संन्यासियों का पराश्रयी रूप उनका विखण्डित रूप है, वास्तविक स्वरूप नहीं। वास्तविकता तो यह है कि संन्यासी ही सच्चा सामाजिक कार्यकर्ता है, क्योंकि वह जो भी करता है, सम्पूर्ण समाज के लिये करता है, वैयक्तिक हित-साधन के लिए

नहीं । उनकी आत्मा सम्पूर्ण समाज, समस्त विश्व की आत्मा से एकाकार हो जाती है । आलसी अथवा निष्क्रिय व्यक्ति कभी भी वास्तविक संन्यासी नहीं हो सकता । संन्यास कर्मों के त्याग को नहीं, फलों के त्याग को कहते हैं ।

समाजवाद शब्द का प्रयोग सामान्यतया आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्त के अर्थ में किया जाता है । पाश्चात्य अर्थ में यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मनुष्य के भौतिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति से संबद्ध है । किन्तु जिस अर्थ में इसका प्रयोग स्वामी जी ने किया है, उसमें यह उपर्युक्त पक्षों के साथ ही मानव-जीवन के मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों की उन्नति से भी संबद्ध है । स्वामीजी का सिद्धान्त समाज के समस्त सदस्यों को केवल समान अधिकार दिलाने की ही बात नहीं करता, अपितु समान कर्तव्यों के पालन की भी बात जोड़ देता है । उनका समाजवाद केवल अधिकारों एवं सुविधाओं से संबद्ध नहीं है । वह तो समाज के विभिन्न अंगों को सुविधा देने के साथ कुछ कर्तव्यों के पालन को संलग्न कर देता है । उनका कथन है कि " समस्त अशुभ भेद में है । समस्त शुभ समानता में है, जो समस्त वस्तुओं की एकता तथा तद्रूपता में विद्यमान है ।"[16]

स्वामी विवेकानन्द ने समाजवाद का विरोध पूँजीवाद से न दिखाकर व्यक्तिवाद से दिखाया है । स्वामी रामतीर्थ के विचारों में

जिस "व्यक्तिवाद" का प्रयोग मिलता है, वह भिन्न अर्थ रखता है । उस अर्थ में समाजवाद और व्यक्तिवाद एकार्थक दिखाई पड़ते हैं । किन्तु व्यक्तिवाद का वह रूप जिसका स्वामी विवेकानन्द ने समाजवाद से विरोध दिखाया है, सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है । मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद का उद्देश्य पूँजीवाद का विरोध करके एक ऐसे समाज की संरचना करना है, जिसके किसी भी सदस्य के पास कोई भी व्यक्तिगत उत्पादक सम्पत्ति न हो । स्वामी जी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किन्तु उनका आधार अलग है । उन्होंने समानता की शिक्षा दी है, और बार-बार भारतीयों को इस बात की चेतावनी दी है कि उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि लाखों अशिक्षित तथा गरीब लोग उनके भाई एवं बहन हैं तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिये उन्हें अपने सुखों का त्याग करने का प्रयास करना चाहिए ।

वैज्ञानिक समाजवाद के साथ स्वामीजी के इनविचारों की तुलना करने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मार्क्स के विचार पूर्णतया निर्दोष हैं? क्या वैज्ञानिक समाजवाद समस्त सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के लिये रामबाण है? इन प्रश्नों का उत्तर अब पर्याप्त रूप से सरल है । उत्तर यह है कि वैज्ञानिक समाजवाद स्वयं दोषपूर्ण है । आधुनिक काल में अनेक साम्यवादी राज्यों की स्थापनाहो चुकी है । उन राज्यों में भी सामाजिक तथाआर्थिक भेद विधमान हैं । संसार केसबसे महान साम्यवादी राज्य सोवियत रूस में लोगों के जीवन स्तर में भारी अन्तर है । यही बात चीनी समाज के लिये भी सत्य है । इस अवलोकन से यह प्रमाणित होता है, कि

वैज्ञानिक समाजवाद समस्त सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के लिये रामबाण नहीं है । इसका प्रमुख कारण यह है कि यह सिद्धान्त समाज पर बलपूर्वक आरोपित किया गया है । इसके अन्तर्गत लोगों की वैयक्तिक-सम्पत्ति बलपूर्वक जब्त कर ली जाती है, और न चाहने पर भी उन्हें अपने व्यक्तिगत सुखों का परित्याग करने के लिये बाध्य किया जाता है । वर्तमान दशक में सोवियत रूस में सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं । इसका और भी स्पष्ट प्रमाण गोर्बाच्योव का   सामाजिक पुनर्रचना का सिद्धान्त है, जो स्वतंत्रता के मूल्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है । स्वामी विवेकानन्द के द्वारा प्रस्तावित समाजवाद की स्थापना में आन्तरिक शक्ति का प्रयोग होता है, बाह्य बल का नहीं । लोग अपने सुखों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का त्याग अन्तरात्मा की पुकार पर करते हैं, न कि शासन-दण्ड के भय से । आर्मीनिया का भयंकर भूचाल इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि बलप्रयोग जहाँ भूचाल से गिरे हुए भवनों के खण्डहरों की ढेर में दबे असहनीय चोट और घावों की वेदना से चीखते और सहायता के लिये चिल्लाते पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की सहायता न कर वहाँ के स्थानीय लोग घड़ी, अंगूठी, कर्णफूल और अन्य आभूषण छीनने में व्यस्त थे । अक्टूबर 1917 की रूसी क्रान्ति से लेकर आज तक का रूसी फौलादी और निरंकुश शासन अपने बल प्रयोग और जब्तीकरण की विधियों द्वारा जनता के मन में निहित व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व भावना का समूल उन्मूलन नहीं कर सकी । अवसर मिलते ही वह तुरन्त उभर उठी ।

आज के वैज्ञानिक समाजवाद की इससे बड़ी पराजय और क्या हो सकती है । अतः सच्चे समाजवाद की स्थापना आन्तरिक संयम, अपरिग्रह और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के महान् आदर्शों में सहज निष्ठा से ही संभव होगा - जैसा कि स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, गाँधी, अरविन्द और स्वामी करपात्री जैसे वेदान्ती दार्शनिकों की मान्यता है न कि मार्क्सवादी बलप्रयोग और जब्तीकरण द्वारा ।

सामान्य विचारकों को वेदान्त तथा समाजवाद दो विरोधी सिद्धान्त लग सकते हैं । क्योंकि अनेक पक्ष ऐसे हैं जहाँ ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं । समाजवाद मुख्यतः भौतिक सिद्धान्त है, जबकि वेदान्त आध्यात्मिक । एक मुख्यरूप से संसार ।इहलोक। से संबद्ध है, तो दूसरा परलोक से । एक प्रमुखतः अर्थ और काम से संबद्ध है तो दूसरा धर्म और मोक्ष से । इन विचारकों को दोनों सिद्धान्त उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, जैसे भौतिकवाद और अध्यात्मवाद । उनका कथन है कि समाजवाद का अपना एक स्वरूप है, इसके कुछ बुनियादी सिद्धान्त हैं, यह जीवन और उसकी भौतिक उपलब्धियों से अनिवार्यतः जुड़ा है, और वेदान्त एक शुद्ध अध्यात्मवादी सिद्धान्त होने के कारण किसी भी रूप में समाजवाद के समान नहीं माना जा सकता ।

ये अन्तर केवल आभासी हैं वास्तविक नहीं । वेदान्त और

समाजवाद परस्पर विरूद्ध सिद्धान्त प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों का एक ही उद्देश्य है । विरोध तो केवल आभासी है, किन्तु समानताएं वास्तविक हैं । वेदान्त को केवल परलोक से संबद्ध सिद्धान्त मानना असमीचीन है । वेदान्त निश्चित ही आध्यात्मिक सिद्धान्त है, साथ ही वह भौतिक जगत् के मूल्यों का भी आध्यात्मीकरण करने का प्रयास करता है । समाजवाद एक भौतिक सिद्धान्त होने के कारण मनुष्य के सांसारिक जीवन की समानता को ही अपना विषय बनाता है, किन्तु वेदान्त इसके साथ ही मनुष्य के आध्यात्मिक तादात्म्य पर भी बल देता है । कुछ आलोचकों का कथन है कि वेदान्त जब भौतिक जगत् की सत्ता का खण्डन करता है, तब वह समाज और उसके सदस्यों की समानता की बात कैसे करेगा ? किन्तु यह आलोचना समीचीन नहीं है । वेदान्त जगत् और समाज की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करता है । वह तो केवल यह कहता है कि यही संसार और यही समाज अन्तिम सत्ता नहीं है । इसके परे भी सत्ता है, वही परम सत् है । समाजवाद मानव-जीवन के निम्न मूल्यों अर्थ और काम का ही विवेचन करता है किन्तु वेदान्त इन मूल्यों के साथ ही धर्म और मोक्ष को भी स्वीकार करता है और यह भी कहता है कि अन्तिम मूल्य के लिए अन्य समस्त मूल्य साधन हैं । साधन के रूप में भौतिक मूल्यों का ी महत्व वेदान्त में स्वीकार किया गया है । यहाँ वेदान्त और समाजवाद का भेद केवल प्रतीति मात्र है । समाजवाद द्वारा स्वीकृत निम्न मूल्यों में मानव जीवन के उच्च मूल्यों को जोड़कर वेदान्त उसे पूर्ण बनाने का प्रयास करता है ।

स्वामी विवेकानन्द को उस विकास मे पूर्ण विश्वास था जो समाजवाद को स्थापित कर सकता है । उनका विचार था कि मानव समाज का शासन विभिन्न जातियाँ क्रमश: करती है । " मानव समाज क्रमश: पुजारी वर्ग। ब्राह्मण।, योद्धा ।क्षत्रिय। व्यापारी वर्ग। वैश्य। तथा मजदूर ।शूद्र। द्वारा शासित होता है । अन्तिम शासन मजदूर ।शूद्र। वर्ग का ही होगा"।[17] अब वह समय आ गया है, जबकि अन्तिम ।मजदूर। वर्ग के शासन की स्थापना होगी । अनेक समाजवादी विचारकों ने भी यही बात कही है । उनके अनुसार भी शासक तो मजदूरों को ही होना चाहिए । यही वह वर्ग है जो समाज के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाता है । यही वर्ग वास्तविक उत्पादक वर्ग है, अतएव शासन का अधिकार भी इसी वर्ग को है । इस प्रकार स्वामी जी ने समाज के विकास की व्याख्या करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि मजदूर वर्ग के उत्थान का समय आ गया है । वही समाज के भावी शासक हैं । स्वामी जी के इन विचारों में उनके वेदान्ती -सामाजवाद की स्थापना की प्रबल आशा झाँकती दिखाई पड़ती है ।

वेदान्त दर्शन के उन मूल्यों को जो प्राचीन काल में व्यक्तिगत मोक्ष के साधन थे, स्वामी जी ने समाज के उत्थान के हेतु प्रयुक्त किया है । वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा को उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रूप में परिवर्तित कर दिया । त्याग अथवा संन्यास का प्रयोग उन्होंने समाज की सेवा के लिये किया है । अभेद के सिद्धान्त काप्रयोग उन्होंने सामाजिक

समानता तथा एकता के लिए किया है । जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, स्वामी जी के अनुसार संन्यासी सच्चा समाज सेवक है, क्योंकि वास्तविक संन्यासी उनके अनुसार वह है, जो समाज का त्याग न करके अपने हितों का त्याग समाज के लिए कर दे ।

कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि धर्म और मोक्ष का मानव जीवन में गौण अथवा द्वितीयक महत्व है और वेदान्त गौण को ही प्रमुख स्थान देता है, अत: वह समाज के लिये केवल गौण सिद्धान्तों की सेवा ही अर्पित कर सकता है । इनके अनुसार प्राथमिक अथवा मुख्य महत्व तो अर्थ और काम का है । ये ही मानव-जीवनकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । किन्तु इस समस्या पर ध्यान से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि जिसे यहाँ गौण कहा जा रहा है वही वास्तव में प्रमुख है । धर्म और मोक्ष परम साध्य हैं । साध्यको कम से कम साधन के समानमहत्व तो देना ही पड़ेगा। उच्च मूल्यों का महत्व मानव-जीवन में निरन्तर बना रहेगा । मानव-जीवन पशुजगत् से श्रेष्ठतर है । इसी कारण केवल भोजन और कपड़ा से उसका सम्यक् पोषण संभव नहीं है । इनके अतिरिक्त भी उसे कुछ और चाहिए । मानव समाज ही सर्वोच्च मूल्यों का निवास स्थान बनने में समर्थ है । स्वामी जी ने कहा है कि " वही समाज महानतम है जिसमें उच्चतम सत्यों को व्यवहार में लाया जा सके । यदि कोई समाज इन उच्चतम सत्यों के पालन में असमर्थ है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसे यथाशीघ्र इस योग्य बनायें ।"[18] यह उच्चतम सत्य मानव जीवनके उच्चतम मूल्य हैं और ये ही मूल्य किसी समाज को महान् बना सकते हैं । समाज को योग्यता प्रदान करने के लिये परिवर्तन आवश्यक है । स्वामीजी की दृष्टि में परिवर्तन

विकास का सर्वोत्तम उपाय है । परिवर्तन और सामंजस्य हमारे समाज की आवश्यकताएं हैं । यह परिवर्तन समाज के स्वभाव अथवा उसकी प्रकृति में ही निहित होता है । समाज स्वभावत: परिवर्तित होता रहता है । स्वामी जी ने कहा है कि "परिवर्तन का अर्थ गतिशीलता है, रूप परिवर्तन नहीं । इतना बुरा कुछ भी नहीं है, जिसका रूप-परिवर्तन आवश्यक हो । अनुकूल सामंजस्य-शीलता में ही जीवन का समस्त रहस्य छिपा है और इसी शक्ति से इस रहस्य को जाना जा सकता है । दमनकारी बाह्य शक्तियों से दबी आत्मा से ही सामंजस्य या अनुकूलन का उद्भव होता है । जो सर्वोत्तम प्रकार का सामंजस्य स्थापित कर लेता है, वह सर्वाधिक जीवित रहता है ।" [19]

इस प्रकार का परिवर्तन स्वाभाविक रूप से हो रहा है । समाज का जो भावी रूप झलक रहा है ,उसमें समस्त सदस्य समानता का आनन्द ले सकेंगे । समाज के समस्त सदस्य जीवन के सभी क्षेत्रों में समान होंगे । स्वामी जी के समाजवाद में वैज्ञानिक समाजवाद से आगे बढ़कर भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों समानताओं को आदर्श माना गया है । मनुष्य यदि केवल भौतिकता एवं उसकी उपलब्धियों तक सीमित रहे तो उसका जीवन नारकीय हो जायेगा । अत: वेदान्त द्वारा प्रतिपादित सुधार को, वैज्ञानिक समाजवाद को मानवता के हित में मानना पड़ेगा । जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिये आध्यात्मिकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

सामाजिक-चिन्तन में इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण नहीं छोड़ा जा सकता । स्वामी जी ने कहा है कि " मनुष्य सदैव भौतिकता के विषय में नहीं सोच सकता चाहे यह कितनी ही सुखद क्यों न हो ।"[20] सांसारिक सम्पत्ति तथा उसकी समानता मानव-समाज का आदर्श नहीं बन सकती । वैज्ञानिक समाजवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि उसमें इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के लिये कोई स्थान नहीं है । यह भौतिकता तक ही सीमित रह जाता है । अतः वैज्ञानिक समाजवाद मानवता को पूर्णता नहीं प्रदान कर सकता । इसे सुधार की अपेक्षा है और यह सुधार केवल वेदान्त ही कर सकता है ।

परम्परागत मार्क्सवादी विचारकों ने स्वामी विवेकानन्द के समाजवादी सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है और यह निरूपण करने का प्रयत्न किया है कि वे पूर्णरूपेण समाजवादी नहीं थे और अन्य विचारकों के सिद्धान्तों की भाँति उनके भी विचार पूर्ण नहीं हैं, और वे राजनैतिक कार्यों के लिए प्रेरक न होकर राजनैतिक चिन्तन एवं कार्यों के विकल्प के रूप में कहे गए हैं ।[21]

स्वामी जी के आलोचकों ने उनके सिद्धान्तों को ठीक से समझने का प्रयत्न नहीं किया अतः उनकी आलोचना आंशिक रूप से ही सत्य है । स्वामी जी वास्तविक अर्थ में राजनीतिज्ञ नहीं थे और न मौलिक सामाजिक विचारक । वे सन्त पहले थे और सामाजिक-विचारक बाद में । इस कारण समाजवाद का सैद्धान्तिक निरूपण उनका लक्ष्य नहीं था । पुनश्च उनके समाजवादी विचार

भारतीय शास्त्रों और परम्पराओं से निर्मित हैं न कि वैज्ञानिक समाजवाद से । मार्क्सवाद के साहित्य से उनका सीधा सम्पर्क नहीं हो पाया था और न उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद का मौलिक ज्ञान प्राप्त हो सका था और न उनके जीवनकाल तक किसी देश में समाजवादी राज्य की स्थापना ही हुई थी, जिसकी उपलब्धियों से प्रेरित हो, वे वैज्ञानिक समाजवाद के अध्ययन की ओर उन्मुख होते । इस कारण उनके विचारों में समाजवादी विचारों का अधूरापन स्वाभाविक है और अन्य विचारों के साथ इनका सम्मिश्रण भी । किन्तु मार्क्सवादी समाजवाद के अपूर्ण निरूपण से स्वामी जी के विचारों में न तो कोई कमी आती है औरनउनका किसी भी प्रकार महत्व ही कम होता है । उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचारों से न केवल भारतीय मनीषा को प्रभावित किया था अपितु समस्त विश्व को झकझोर दिया था जिसके परिणाम स्वरूप विश्व राष्ट्रों में भारत का सम्मान बढ़ा था और विश्व के अनेक राष्ट्र पराधीन भारत के ज्ञान-वैभव की ओर आकृष्ट हुए थे । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसे कोई अनदेखी नहीं कर सकता । उनके व्याख्यानों और विचारों में पीड़ित मानवता के लिये शान्ति और मुक्ति का एक नया सन्देश था जो वेदान्त पर आधारित था । वे वस्तुतः वेदान्ती तथा समाजवादी दोनों एक साथ थे । उनके विचारों में अध्यात्मवाद तथा समाजवाद का सुन्दर समायोजन मिलता है । वर्तमान काल में समाजवाद मार्क्सवाद से आगे बढ़ चुका है । भारत में निश्चय ही यह अज्ञेयवाद, धर्म-निरपेक्ष राजनीति तथा व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता जैसे कुछ वेदान्ती विचारों से प्रभावित हुआ है । स्वामीजी के विचारों में इस विकास का बीज आसानी से देखा जा सकता है ।

1- विवेकानन्द- कास्ट कल्चर एण्ड सोशलिज्म, अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय 1970, प्रस्तावना पृ0 ।

2- वही पृ0 5

3- वही पृ0 5

4- वही पृ0 10

5- वी0के0आर0वी0राव,-स्वामी विवेकानन्द, बिल्डर्स आफ माडर्न इण्डिया ,पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इन्फारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, भारत सरकार 1971, पृ0166

6- वही पृ0 169

7- विवेकानन्द- कम्पलीट वर्क्स आफ विवेकानन्द , अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोड़ा, हिमालय खण्ड 3 पृ0372

8- विवेकानन्द- कास्ट कल्चर एण्ड सोशलिज्म, प्रस्तावना पृ0 9-10

9- प्रभा दीक्षित - स्वामी विवेकानन्द पर लेख, दिनमान सितम्बर - 12-18, 1976, पृ020 सम्पा0 रघुवीर सहाय, टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशन, 10 दरियागंज, नई दिल्ली ।

10- विवेकानन्द- कम्पलीट वर्क्स आफ विवेकानन्द, खण्ड 3 पृ0 369-370

11- वही पृ0 370

12- वही पृ0 295

13- वही पृ0 295-296

14- वही पृ0 446

15- वही पृ0 446

16- विवेकानन्द- कास्ट कल्चर एण्ड सोशलिज्म, प्रस्तावना पृ0 10

17- वही पृ0 75

18- विवेकानन्द- कम्पलीट वर्क्स आफ विवेकानन्द, खण्ड 2 पृ0 85

19- उपरिउद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 6, पृ0 110

20- उपरिउद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 2, पृ0 64

21- द्रष्टव्य, प्रभा दीक्षित, दिनमान, उपर्युद्धृत लेख एवं अंक ।

0

स्वामी रामतीर्थ

महान एवं विशाल कार्यों को पूरा करने वाले महापुरुषों का लौकिक जीवन लघु होता है । प्रकृति के इस विचित्र विरोधाभास के अनेक उदाहरण हैं । उनमें से एक स्वामी रामतीर्थ का जीवन है । उनका जन्म 22 अक्टूबर 1873 तथा देहत्याग 17 अक्टूबर 1906 को हुआ । अत्यन्त सीमित तैंतीस वर्ष के जीवनकाल में उन्होंने चिन्तन के जिस महानद को प्रवाहित किया उसकी मात्र एक धारा का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है ।

" वेदान्त एवं समाजवाद" नामक अपने लेख में स्वामी रामतीर्थ ने समाजवाद के संप्रत्यय पर विचार किया है । स्वामी जी ने समाजवाद की अपेक्षा " व्यक्तिवाद" के व्यवहार को समीचीनतर स्वीकार किया है । अपनी इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने तर्क भी दिया है । उनका कथन है कि समाजवाद शब्द का प्रयोग " समाज के द्वारा शासन" के विचार को अधिक महत्व प्रदान करता है, जबकि उचित यह है कि व्यक्ति की श्रेष्ठता सम्पूर्ण विश्व के ऊपर स्थापित की जाए । ऐसी स्थापना हो जाने पर न तो कोई चिन्ता शेष रहती है और न ही कोई व्यवधान । स्वामी जी ने इसे व्यक्तिवाद कहा है और अन्य लोगों को इस बात की पूरी छूट दी है कि यदि वे चाहते हैं, तो इसे समाजवाद कहें । वास्तव में यह व्यक्तिवाद ही है । [1]

स्वामी रामतीर्थ के द्वारा व्यष्टिवाद शब्द का प्रयोग उनके विचारों को अराजकतावाद के अत्यन्त समीप ले जा कर खड़ा कर देता है। सामान्य दृष्टि से ऐसा आभास हो सकता है। किन्तु सूक्ष्म-विवेचनकरने पर स्वामी जी के विचारों एवं अराजकतावाद के बीच एक अभेद्य दीवार स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनका व्यक्तिवाद अराजकतावाद नहीं है। व्यक्तिवाद पद के प्रयोग से उनका स्पष्ट अभिप्राय है " व्यक्ति पर न्यूनतम सरकारी नियंत्रण"। उनके " व्यक्ति" को सामान्य अर्थ में न लेकर एक विशिष्ट अर्थ में ही लेना उचित है। वास्तव में जिस "व्यक्ति " की चर्चा उन्होंने इस प्रसंग में की है, वह संभावित-सम्पूर्ण व्यक्ति है, व्यक्ति मात्र नहीं। उस व्यक्ति में कतिपय अर्हताएं होनी आवश्यक हैं। इन अर्हताओं से मण्डित "व्यक्ति" का स्वरूप उनके प्रस्तुत विचारों में झलकता है- " यज्ञ का वास्तविक अर्थ है अपने पड़ोसी को अपने से एक मानना, स्वयं का (अपनी आत्मा का) सबके साथ तादात्म्य संबंध अनुभव करना, अपनी निम्नतर या संकुचित आत्मा (जीव) का परित्याग कर सर्वात्म बनना"।[2] इस प्रकार की साधना के द्वारा जिसने उपर्युक्त गुणों को प्राप्त कर लिया है, उसे सामान्य अर्थ में " व्यक्ति" समझना असमीचीन होगा। वास्तविकता तो यह है कि वह "व्यक्ति" होकर भी "समष्टि" को समाहित किए रहता है। उसका जीवन एवं उसके कार्य व्यक्तिगत न होकर सम्पूर्ण विश्व के जीवन एवं कार्य होते हैं।

सामान्य अर्थ में व्यक्तिवाद समाजवाद का विरोधी होता है, क्योंकि व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति का महत्व समाज की अपेक्षा अधिक होता है और समाजवाद ठीक इसका उलटा विचार रखता है । किन्तु स्वामी जी के द्वारा प्रयुक्त" व्यक्तिवाद" किसी भी रूप में समाजवाद का विरोधी नहीं हो सकता । उनका व्यक्ति सम्पूर्ण समाज का एक अंग नहीं है, अपितु सम्पूर्ण समाज को उसके समस्त हितों को स्वयं में समाहित किए रहता है । इस रूप में व्यक्ति समाज की सत्ता का आधार बन जाता है । यही वह सामाजिक अनुभूति है, जिससे प्रेरित होकर वह अपनी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को हटाकर त्याग एवं अपरिग्रह के आदर्शों का पालन करता है । किसी स्वार्थी व्यक्ति का समाज के किसी अन्य स्वार्थी व्यक्ति से संघर्ष संभव है, और स्पष्ट है कि यह संघर्ष दो व्यक्तियों के बीच नहीं, अपितु दो स्वार्थों के बीच है । यह संघर्ष व्यक्ति के कुत्सित स्वरूपों के बीच है । किन्तु यथार्थतः व्यक्ति संघर्ष नहीं, सहयोग करता है । व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप और समाज के बीच कोई संघर्ष नहीं है । यही वह बात है, जिसकी शिक्षा रामतीर्थ ने अपने " वेदान्ती समाजवाद" में दी है । ये व्यक्तिवादी विचार उसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं, जो समाजवाद का लक्ष्य है । अन्तर केवल इतना है कि समाजवाद अपनी व्यूह रचना में समाज के सम्मुख व्यक्ति को कहीं कोई स्थान नहीं देता, जबकि वेदान्त-सम्मत "व्यक्तिवाद" व्यक्ति को अधिक महत्वपूर्ण मानता है । उद्देश्य दोनों ही धाराओं का एक है । स्वामी जी ने कहा है- कि "तथा-कथित समाजवाद, पूँजीवाद एवं व्यक्तिगत-सम्पत्ति का विरोधी होने के

कारण अपने उद्देश्य में वेदान्त के समान है, जो स्वामित्व के समस्त विचारों एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है ।[3]

उपर्युक्त व्यक्तिवाद अथवा वेदान्त तथा समाजवाद के आदर्श एक ही हैं । दोनों ही अपरिग्रह एवं समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । समाजवाद का "व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन" का विचार वेदान्त के " त्याग एवं अपरिग्रह" के विचारों से पूर्णतया एक है । स्वामी जी ने कहा है कि " वेदान्त समानता की शिक्षा देता है और यही उद्देश्य समाजवाद का भी होना चाहिए । किसी भी बाह्य -सम्पत्ति के प्रति कोई अनुराग नहीं होना चाहिए" ।[4] बाह्य संपत्ति के उन्मूलन पर विशेष बल देना वेदान्त -सम्प्रदाय के एक अन्य उद्देश्य की ओर भी संकेत करता है । इस रूप में आभ्यन्तर- संपत्तियों यथा: विवेक, ज्ञान इत्यादि की उपस्थिति को आवश्यक माना गया है ।

वेदान्त और वैज्ञानिक समाजवाद दोनों ही भौतिक सम्पत्तियों के सम्पूर्ण समाज में समान वितरण पर जोर देते हैं । किन्तु दोनों विचारों में अन्तर केवल यह है कि वैज्ञानिक समाजवाद बलपूर्वक अपने इन सिद्धान्तों को जनता पर थोपता है, जबकि वेदान्त के अनुसार यह विचार मनुष्यों को स्वयं अपने ऊपर लागू करना चाहिए ।

वेदान्त के विचार क्रान्तिकारी-समाजवाद की अपेक्षा विकासवादी-समाजवाद की विधि के अधिक निकट हैं, जिसमें शिक्षा के माध्यम से समाजवाद के विकास की बात कही गई है । वैज्ञानिक समाजवाद में इन विचारों की स्वीकृति एक बाध्यता पर आधारित है, जबकि वेदान्त में यह स्वेच्छा पूर्वक है । वैज्ञानिक-समाजवाद अपने "व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन" के सिद्धान्त को लागू करने के लिए बाह्य शक्ति का प्रयोग करता है, किन्तु वेदान्त के " त्याग" के आदर्श के परिपालन में किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं है । इसे केवल आन्तरिक शक्ति-शम, दम इत्यादि से ही प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाह्य साधनों का प्रयोग करके वैज्ञानिक समाजवाद अपनी बाह्यता को वेदान्त की आन्तरिकता के सम्मुख खड़ी करता है । वेदान्त और समाजवाद दोनों के उद्देश्य पूर्णतया एक हैं । केवल साधन अलग-अलग स्वीकार किए गए हैं । स्वामी जी ने कहा है कि " तथाकथित समाजवाद विश्व के केवल बाह्य अध्ययन से इस निर्णय पर पहुँचता है कि समस्त मानव-जाति को समानता, भ्रातृत्व और प्रेम के आदर्शों का पालन करना चाहिए । वेदान्त विश्व का अध्ययन आन्तरिक दृष्टि से करता है, अतएव उसके अनुसार किसी भी व्यक्तिगत-सम्पत्ति का स्वामित्व मानव- आत्मा की मलिनता का प्रमुख कारण है।"[5] स्वामी जी की उपर्युक्त पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है कि जहाँ समाजवाद केवल यह कहता है कि व्यक्तिगत-सम्पत्ति रखना अनुचित है, वहाँ वेदान्त यह भी कहता है कि यह क्यों अनुचित है । सकारण कही गयी बात में अधिक बल होता है ।

स्वामी जी ने यह कारण दिखाया है और कहा है कि आत्माकी मलिनता को दूर करने के लिए व्यक्तिगत-सम्पत्ति का उन्मूलन आवश्यक है । वैज्ञानिक समाजवाद व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलनके पक्ष में या तो तर्क देता ही नहीं या वे तर्क इतने सबल नहीं है कि बौद्धिक कसौटी पर खरे उतरें, किन्तु वेदान्त का यह तर्क कि सम्पत्ति आत्मा को बन्धन में डालती है , पर्याप्त शक्ति रखता है । इसके आधार पर आसानी से व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का औचित्य प्रमाणित किया जा सकता है । स्वामी जी ने वेदान्त-सम्मत समाज-वाद का उदाहरण देते हुए कहा है, कि" भारत के वेदान्ती संन्यासी हिमालय पर समाजवादी-जीवन प्रागैतिहासिक काल से जी रहे हैं।"[6] यह उनके आदर्श समाजवाद की एक झाँकी है, और इस बात का प्रमाण भी कि उनके द्वारा प्रतिपादित समाजवाद व्यवहार्य है, कोरा सिद्धान्त नहीं ।

वेदान्त सम्प्रदाय का यह स्वनियोजित अनुशासन वैज्ञानिक समाजवाद के अनेक दोषों को दूर करने में समर्थ है । अनेक समालोचकों ने इस बात को अपना कथ्य बनाया है कि समाजवादी या साम्यवादी राज्यों में लोग निष्क्रिय एवं आलसी हो जाते हैं, वे कोई कार्य विशेष प्रयास पूर्वक नहीं करना चाहते ,क्योंकि कार्य का सम्पूर्ण फल उन्हें स्वयं नहीं मिलता है । किन्तु वेदान्त-सम्मत समाजवाद के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के आलस्य एवं निष्क्रियता को स्थान नहीं मिलता । स्वामी जी का कथन है कि "वनों में रहने वाले वे संन्यासी कठोर परिश्रम करते हैं, वे विलास प्रिय नहीं हैं ।

यह उन्हीं के प्रयास का फल है कि भारत में विपुल आर्ष साहित्य प्रादुर्भूत हो सका । यही वे लोग हैं जो महानतम कवि, नाटककार, वैज्ञानिक, दार्शनिक, वैयाकरण, गणितज्ञ, खगोलशास्त्री इत्यादि बने और वैभव को स्पर्श तक नहीं किया ।"[7] इन वेदान्तियों के लिये त्याग कोई बाध्यता नहीं है, अपितु स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया गया आदर्श है । इन लोगों ने सांसारिक वैभव एवं सुख का परित्याग केवल उच्चतर वैभव एवं आनन्द को प्राप्त करने के लिये आवश्यक स्वीकार किया है । वेदान्त के द्वारा स्वीकृत मार्ग में पूर्ण स्वातंत्र्य है । प्रत्येक सदस्य स्वतंत्रता एवं स्वेच्छा पूर्वक नियमों का पालन करता है, जबकि वैज्ञानिक समाजवाद सदस्यों को बाध्य करता है कि वे इन आदर्शों को स्वीकार करें । स्वतंत्रता का अभाव होने के कारण समाजवादी शासन में लोग कायर एवं आलसी बन जाते हैं । वेदान्त प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छा पूर्वक कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है । स्वामी जी का कथन है कि " केवल वही व्यक्ति कुशलता पूर्वक कार्य कर सकता है, जो स्वयं को स्वतंत्र अनुभव करे ।"[8] स्वतंत्रता के अभाव में मानव व्यक्तित्व की पूर्णता की कल्पना भी नहीं की जासकती और इस रूप में स्वामी जी का कथन सही लगता है कि स्वतंत्रता कार्य-कुशलता की पूर्व मान्यता है ।

वेदान्त और समाजवाद दोनों ही जातिभेद और वर्गभेद जैसी चीजों के विरोधी हैं । स्वामी रामतीर्थ के विचार में प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित जाति-प्रथा केवल श्रम के आधार पर किया गया समाज का विभाजन था और इस रूप में यह समाज की प्रगति एवं उसके कल्याण के लिये उपयोगी

प्रथा थी । लोग अपने व्यवसाय के आधार पर वर्णों में विभक्त थे, किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र में भावनाओं एवं अनुभूतियों का पूर्ण सामंजस्य एवं एकरूपता विद्यमान थी । कालान्तर में यह प्रथा विकृत हो उठी । पहले जहाँ व्यवसाय के भेद के होते हुए भी भावनाओं में सामांजस्य था, अब ठीक उल्टा हो गया । व्यवसायों की एकरूपता तथा भावनाओं का असामंजस्य प्रचलित होता गया । यह समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ । स्वामी रामतीर्थ ने जाति-प्रथा के उन्मूलन पर बल दिया है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह पूर्णतया बेकार प्रथा रही है । सत्य केवल यह है कि विकृत हो जाने के कारण यह अपनी उपयोगिता खो चुकी है । स्वामी जी ने कहा है कि " भारत की नदियों ने अपना रास्ता बदल दिया तथा बर्फ के पर्वत बदल गए हैं । इस प्रकार के परिवर्तनशील विश्व में प्रचीन नियमों एवं प्रथाओं को शाश्वत बनाने का प्रयास करना व्यर्थ है । वास्तव में उस व्यक्ति की स्थिति चिन्ताजनक है, जो आगे बढ़ने का इच्छुक होकर भी निरन्तर पीछे की ओर देख रहा हो । ऐसा व्यक्ति हर कदम पर ठोकर खाकर गिरेगा।"[9] समाजवाद के साथ अपनी सहमति प्रदर्शित करते हुए स्वामी जी ने जाति-प्रथा के उन्मूलन की घोषणा की है । जाति के आधार पर किसी सदस्य को किसी अवसर से वंचित नहीं रखा जा सकता । यहाँ वेदान्त तथा समाजवाद के उद्देश्यों की एकता दर्शनीय है ।

वेदान्त तथा समाजवाद दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं, कि

किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत-सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं है । दोनो ही पुरुषों तथा स्त्रियों की समानता पर बल देते हैं । दोनों की दृष्टि में स्त्रियों को उतनी ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, जितनी पुरुषों को । स्वतंत्रता यदि यौन संबंधों की स्वतंत्रता को भी समाविष्ट कर ले तब यह समाज को पशुता के स्तर पर लाकर छोड़ देगा । यह आलोचना समाजवाद के लिए कठिन हो सकती है, इसका उत्तर देनासमाजवादियों के लिये कठिन हो सकता है । किन्तु वेदान्त दृढ़ता पूर्वक इस आलोचना का सामना करते हुए कहता है कि यौन-संबंध के दृष्टिकोण से मानव समाज के लिये यह उच्चतर स्थिति होगी । इस दृष्टि से परखने पर पशुजगत मानवजगत की अपेक्षा अधिक अच्छा है । स्वामी जी का कथन है कि " गाय और भैंस जैसे पशु अपने यौन-संबंध में अत्यन्त सुव्यवस्थित व्यवहार करते हैं । यदि मानव भी इस प्रकार का व्यवहार कर सके तो सभ्य समाज के अन्दर छिपी हुई लिप्तता तथा वासना की भावनाएंजाती रहेंगी ।"[10]

स्वामी जी के यौन स्वातंत्र्य सम्बन्धी उपर्युक्त विचार अत्यन्त भयावह और अव्यवहारिक हैं । पशुजगत एवं मानव जगत के यौन स्वातंत्र्य की तुलना करते समय वे यह बात भूल गए कि पशु अपने काम संबंधों में मात्र सन्तानोत्पत्ति से प्रेरित होता है किन्तु मानव सन्तानोपत्ति की तनिक भी इच्छा न होते हुए भी सौन्दर्य-लोभ,वैभव-प्राप्ति, शत्रुता, प्रतिशोध और अपमान करने आदि हेतुओं से कामाचार में प्रवृत्त होता है ।

व्यभिचार, बलात्कार, अपहरण आदि घटनाएं इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं । इसी बात को ध्यान में रखकर मनु, याज्ञवल्क्य , आपस्तम्ब जैसे शास्त्रकारों ने माँ, बहन, पुत्री, आदि पवित्र संबंधों के कठोर अनुशासन की व्यवस्था की है । यौन स्वातंत्र्य संबंधी ये विचार स्वामी जी जैसे निःस्पृह और संयमी संन्यासी के लिये समीचीन हो सकते हैं जिन्होंने कामवासनाओं को पूर्णरूपेण जीत लिया है । किन्तु सामान्य जनता में यह विचार घोर अराजकता, हिंसा और रक्तपात की भयावह स्थिति उत्पन्न कर देगा । इसके परिणाम-स्वरूप समाजवाद और वेदान्त दोनों के प्रति अनुराग समाप्त हो जायेगा । इन्द्रिय-स्वातंत्र्य की अपेक्षा इन्द्रिय-निग्रह का महत्व आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में अधिक है । इन्द्रिय निग्रह के महत्व को स्वामी जी एवं अन्य वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं ।

इस संदर्भ में भी हम यह पाते हैं कि वेदान्त और समाजवाद समानरूप से पत्नी , बच्चे तथा घर को भी व्यक्तिगत-सम्पत्ति के रूप में अस्वीकार्य मानते हैं । अन्तर केवल यह है कि जहाँ समाजवाद केवल विवाह तथा पैतृक संस्थाओं के उन्मूलन की बात करता है, वहीं वेदान्त पति-पत्नी, बच्चों तथा अन्य सगे संबंधियों के प्रति भी अनासक्ति भाव रखने तथा संबंधों के पवित्रीकरण पर बल देता है । दोनों विचारधाराओं के बीच के अन्तर को पण्डित बृजनाथ शर्मा ने भली-भाँति प्रदर्शित किया है । उनका मन्तव्य है कि " स्वामी रामतीर्थ ने जिस प्रकार के पवित्र संबंधों की कल्पना की है,

वे वैज्ञानिक- समाजवाद के उन्मूलनात्मक विचारों से बहुत अच्छे हैं । दोनों के बीच का अन्तर शुद्ध आत्मतत्व और माया के बीच का अन्तर है । समाजवाद तो केवल विवाह इत्यादि का उन्मूलन करना चाहता है, संबंधों के पवित्रीकरण की बात कदापि नहीं सोचता ।"[11] इस संबंध में भी दोनों विचारों में वेदान्त की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है ।

शर्मा जी ने अन्य भेद भी वेदान्त तथा समाजवाद के बीच दर्शाया है । उनका कथन है कि "पाश्चात्य समाजवाद वेदान्तिक समाजवाद से वैसे ही भिन्न है, जैसे बलपूर्वक अपहरण स्वेच्छा पूर्वक किए गए त्याग से अथवा मौर्य युग का प्रणय (कर) ब्रिटिश कराधान से । एक ओर वैभव शालियों के प्रति निर्धनों का घृणा-भाव उन्हें (वैभव शक्तियों को) स्वामित्व" से पदच्युत करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर आत्मानुभूति स्वभावतः अस्थायी सांसारिक वस्तुओं के त्याग की ओर प्रेरित करती है । वेदान्त की दृष्टि से स्वामी रामतीर्थ ठीक ही कहते हैं कि मानव को केवल देने का अधिकार है, लेने का नहीं, कोई व्यक्ति सम्पन्न इसी से जाना जाता है, कि वह दूसरों को क्या देता है । देना निश्चित रूप से देने वाले की स्वतंत्र इच्छा की ओर संकेत करता है । पाश्चात्य समाजवाद में इस प्रकार की स्वतंत्रेच्छा के लिये कोई अवकाश नहीं होता । इस प्रणाली में तो दाता कानून के द्वारा उन समस्त वस्तुओं से रहित कर दिया जाता है, जिन्हें वह दान कर सकता था"।[12]

स्वामी जी ने जिस व्यवस्था को उचित माना है, वह समाजवाद की उच्चतम अवस्था है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत उन्होंने एक ओर तो परमार्थ को व्यवहार तक लाने का प्रयास किया है और दूसरी ओर व्यवहार को परमार्थ तक उठाने का, और इस प्रकार व्यवहार तथा परमार्थ के बीच के अन्तर को समाप्त करने का प्रयास किया है । उन्होंने वेदान्त के मूल्यों यथा-सत्य, ज्ञान तथा सौन्दर्य इत्यादि को सामाजिक कल्याण के लिये प्रयुक्त किया है । किन्तु ये आदर्श सामान्य समाज में व्यवहृत नहीं हो सकते । इनके पालन के लिये नए समाज की स्थापना को सामान्यतः आवश्यक माना जा सकता है । पाश्चात्य समाजवादी विचारकों में राबर्ट ओवेन और चार्ल्स फारियर आदि ने इस प्रकार के नये समाजों के निर्माण का प्रयास किया था । यह प्रयास किसी दीर्घकालीन और स्थायी समाधान के बिना ही समाप्त हो गये । स्वामी जी के विचार में ऐसे किसी समाज की स्थापना से कोई लाभ नहीं । उन्होंने कहा है कि " यद्यपि यह सत्य है कि नए समाज की स्थापना से सत्य का पक्ष सबल हो सकता है, किन्तु प्रायः इससे हानि अधिक हुई है, लाभ कम ।"[13] अतएव इन आदर्शों का पालन अपने वर्तमान समाज में ही किया जाना अधिक श्रेयस्कर है । इसके लिए नये समाज की स्थापना उचित नहीं है ।

औद्योगीकरण के विषय में स्वामी रामतीर्थ का विचार था कि इस प्रक्रिया के द्वारा भारत की वास्तविक समस्याओं का हल संभव नहीं है । उन्होंने उत्पादन की वृद्धि की अपेक्षा आवश्यकताओं को सीमित करने पर

अधिक बल दिया है । औद्योगीकरण का विरोध करते हुए उन्होंने कहा है कि "ये संस्थाएं एक सीमा तक अस्थायी समाधान करने में तो समर्थ हैं, किन्तु भारत की वास्तविक कठिनाई, प्रमुख कष्ट और महादुःख उद्योगों के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता ।"[14] मानव-जाति की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है । अतः औद्योगीकरण इच्छाओं की वृद्धि की गति और सीमा के साथ अपनी समता करने में समर्थ नहीं हो सकता । समाज को सुखी बनाने में "त्याग" और "अपरिग्रह" का मूल्य औद्योगीकरण की अपेक्षा अधिक लाभदायक है । यहाँ वेदान्त का मत समाजवाद के विचारों को शुद्ध करता है, जिनके अनुसार औद्योगीकरण मानव कष्टों को दूर करने का एकमात्र साधन माना गया है । अनन्त इच्छाओं को पूर्णतया सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उन्हें सीमित कर देना अधिक आसान कार्य है ।

किन्तु शर्मा जी ने स्वामीजी के उपर्युक्त सामाजिक सिद्धान्तों को सशर्त ही स्वीकार किया है । उनके अनुसार स्वामी जी के ये विचार एक ऐसे समाज में ही लागू होने योग्य है, जिसका प्रत्येक सदस्य व्यवहारतः वेदान्ती हो । वे कहते हैं कि " स्वामी रामतीर्थ जब भी अपने समाजवादी विचारों का उल्लेख करते हैं तब उनके सम्मुख एक ऐसे विश्व का चित्र उपस्थित रहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति व्यवहारतः वेदान्ती है । वह सदैव दैवी अनुभूतियों से युक्त रहता है । तथा शरीर एवं इसके संबंधों की चिन्ता से मुक्त रहता है । ऐसे समाज में दैहिक, दैविक तथा भौतिक विपत्तियों का भय नहीं होता।"[15]

वैज्ञानिक समाजवाद इन दुःखों के इस सीमा तक निवारण की बात सोच भी नहीं सकता ।

स्वामी जी नए समाज की स्थापना को अनावश्यक समझते थे, साथ ही उनके विचार ऐसे हैं, जो सामान्य रूप से हर समाज में लागू नहीं किए जा सकते । किन्तु यह असंभव नहीं है । आज अनेक समाजवादी राष्ट्रों का उदाहरण हमारे सामने हैं । सभी राष्ट्र मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के अनुयायी माने जाते हैं, किन्तु परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि उनकी कार्य प्रणाली एवं विधियों में आपस में पर्याप्त भेद है । इसका स्पष्ट अर्थ है, समाजवाद का कोई भी एक रूप ऐसा नहीं है, जिसकी यथावत स्थापना हर समाज में संभव हो । लेनिन ने रूस के लिए उपयुक्त तम समाजवाद के स्वरूप का निर्माण स्वयं किया । माओ-त्से-तुंग ने चीन के लिए उपयुक्त समाजवाद का रूप बनाया और उसे अपने देश में लागू किया । इसी प्रकार भारत के लिये समाजवाद का उपर्युक्त रूप बनाना पड़ेगा । स्वामी जी का समाजवाद एक ऐसे समाज के लिये उपयुक्त है, जिसका प्रत्येक सदस्य आत्म-त्याग के लिए तैयार हो । ऐसा समाज अस्तित्व में नहीं है, यह बात गलत है । जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, भारतीय सन्त ऐसा जीवन जीते रहे हैं । अतः इन विचारों को अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता । भारतीय समाज धर्म पर आधारित है । अतः इस समाज में समाजवाद का केवल वही रूप लागू हो सकेगा, जो धर्म को अपना आधार माने । अस्तु भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप पर इन आदर्शों को लागू किया जा सकता है ।

पाश्चात्य वैज्ञानिक समाजवाद मानवजीवन के केवल निम्नतर मूल्यों से ही संबद्ध है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के भोजन एवं वस्त्र की पूर्ति आवश्यक मानी गयी है । किन्तु मानव जीवन केवल इन्हीं से संचालित नहीं होता । अनेक उच्चतर मूल्य भी है, जिनकी आवश्यकता मानव जीवन में होती है । इन मूल्यों का समाजवाद में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं स्वीकार किया गया है, जबकि वेदान्त इन्हें अधिक आवश्यक मानता है । अतः वेदान्तिक-समाजवाद वैज्ञानिक-समाजवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है । स्वामी जी का मत है कि त्याग का मार्ग अपनाकर व्यक्ति उच्चतम स्थितियों को प्राप्त कर सकता है । निम्न मूल्यों -सांसारिक सुखों एवं वैभवों का त्याग करके व्यक्ति आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव कर सकता है । सांसारिक सुखों का त्याग करना तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति अनासक्ति क्यों आवश्यक है, इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक समाजवाद समुचित ढंग से नहीं दे सकता । किन्तु वेदान्त यह स्वीकार करता है कि इस प्रकार के त्याग से हम विश्वरूप बन सकते हैं, आत्मशक्ति का विकास कर सकते हैं । इसके द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव कर सकता है । स्वामी जी ने कहा है कि " इस प्रकार के त्याग के प्रयास में जब व्यक्ति सफल हो जाता है , तब वह चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वतंत्रता का अनुभव करता है और समस्त विश्व को अपना घर समझता है ।"[16] इस प्रकार यह मार्ग निश्चय ही वैज्ञानिक समाजवाद के द्वारा सुझाये गए मार्ग से अच्छा है ।

शर्मा जी के उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि स्वामी रामतीर्थ का समाजवाद एक ऐसे समाज की अपेक्षा करता है जिसका प्रत्येक सदस्य व्यवहारत: वेदान्ती है और साथ ही जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वे किसी नए समाज की स्थापना के पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनकी दृष्टि में इन आदर्शों का पालन सभी समाजों में सम्भव है । हमें केवल यह करना है कि लोग यह समझ सकें कि उनके समस्त कष्टों का कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति है । स्वामी जी ने कहा है कि " लोगों को यह समझाना हमारा कर्तव्य है कि उनके समस्त दु:खों एवं कष्टों का इलाज स्वामित्व की भावना के परित्याग में निहित है । एक बार यह बात लोगों की समझ में आ जाएगी तब समाजवाद सम्पूर्ण विश्व में जंगल की आग की तरह फैल जायेगा ।"[17] यहाँ पर समाजवाद शब्द का प्रयोग उन्होंने वेदान्तिक समाजवाद के अर्थ में किया है । पाश्चात्य वैज्ञानिक समाजवाद लोगों को ऐसी अनुभूति कराने में असमर्थ है, क्योंकि वह अपनी समस्त बातों को बल पूर्वक मनवाता है । उपर्युक्त अनुभूति एक स्वैच्छिक क्रिया है, अत: लोगों को इसे मानने अथवा न मानने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए । स्वामी रामतीर्थ का समाजवाद अराजकतावाद के अत्यन्त निकट है । स्वामी जी एक ऐसे समाजवाद की स्थापना पर बल देते हैं जिसमें किसी सरकार अथवा राजा की कोई आवश्यकता नहीं है । उनका कथन है कि " इस प्रकार के समाजवाद में न तो राजा की आवश्यकता है न ही राष्ट्रपति की, न पुरोहित की और न सेना की ।"[18]

इस प्रकार की व्यवस्था को या तो अराजकतावाद कहाजाएगा या समाजवाद से ऊपर की स्थिति जिसे हम परासमाजवाद कह सकते हैं। स्वामी जी के विचारों को परासमाजवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि जिस समाज की चर्चा उन्होंने की है, उसमें अराजकता वाद का कोई अर्थ नहीं होगा। उस समाज में प्रत्येक सदस्य स्वशासित होगा, न तो कोई शासन करने की इच्छा रखेगा और न ही कोई शासित होने की आवश्यकता रखेगा। सभी न केवल समान होंगें अपितु एकाकार हो जायेंगें। यही स्वामी जी का परासमाजवाद या वेदान्ती समाजवाद है। शर्मा ने ठीक ही कहा है कि " स्वामी रामतीर्थ ने जिस किसी भी वस्तु पर हाथ लगाया उसका उन्होंने आध्यात्मीकरण कर डाला। एक रसायन वैज्ञानिक की भाँति उन्होंने धूल को भी सोने में बदल दिया। उनके हाथों समाजवाद की नई व्याख्या सम्भव हुई। जिससमाजवाद की शिक्षा उन्होंने दी है वह हिन्दू धर्म का एक अंग है। हिन्दू समाज व्यवस्था इसी समाजवाद- त्याग के सिद्धान्त पर आधारित है। यह स्वतः -त्याग की शिक्षा है, परतः जब्ती-करण की नहीं, यह स्वेच्छा पूर्वक किये गये समर्पण की शिक्षा है, बल पूर्वक छीन-झपट की नहीं। यही समाजवाद का वास्तविक आधार है, किन्तु पाश्चात्य समाजवाद इस पर आधारित नहीं है। " [19]

शर्मा जी ने ठीक ही कहा है कि न तो वेदान्त समाजवाद है और न ही स्वामी रामतीर्थ जी समाजवादी। समाजवाद शब्द का यदि पश्चात्य अर्थ लिया जाय तो शर्मा जी का कथन सत्य है। सत्य होने पर

श्री शर्मा जी का यह कथन पूर्ण नहीं माना जा सकता । वास्तविकता यह है कि वेदान्त परासमाजवाद है और स्वामी जी रामतीर्थ परासमाजवादी । वेदान्त, समाजवाद से कुछ और अधिक है । कुछ भी हो स्वामी जी ने समाजवाद के गुणों एवं दोषों का समुचित विवेचन किया है और वेदान्ती व्याख्या द्वारा उसके दोषों को दूर करने काप्रयास किया है । उन्होंने वेदान्त के मूल्यों का प्रयोग सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये किया है । वेदान्त के वे मूल्य जो पहले व्यक्तिगत समझे जाते थे , स्वामीजी की व्याख्या में वे सामाजिक मूल्य बन गए । इस प्रकार उन्होंने महात्मागांधी के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके द्वारा गांधी जी ने सत्य एवं अहिंसा का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया ।

महात्मा गांधी पर स्वामी रामतीर्थ के विचारों का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा, किन्तु कुछ अन्य महापुरूष ऐसे भी हुए हैं, जिनपर उनके व्यक्तित्व का सीधा प्रभाव दिखाई पड़ता है । साहित्य के प्रसिद्ध निबंधकार सरदार पूर्ण सिंह प्रमुख हैं । इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्हें कालान्तर में वेदान्ती पूर्णसिंह कहा गया । "उनके व्यक्तित्व का यह दूसरा पक्ष, जिसमें वे एकसाथ समाजवादी और वेदान्ती दोनों ही थे, अधिकांश लोगों की ज्ञान परिधि के बाहर है । उनका व्यक्तित्व अनेक परस्पर विरुद्ध तत्वों का विचित्र सम्मिश्रण था ।" कुल मिलाकर वे सर्वमानववादी, धर्मद्रष्टा, रहस्यवादी, कवि, अपनी वाणी से श्रोतामात्र को मुग्ध कर देने वाले अद्भुत वक्ता, प्रेम में डूबे हुए भावुक और सच्चे देशभक्त के सम्मिलित व्यक्तित्व थे । [20]

जापान की यात्रा के दौरान पूर्णसिंह स्वामीरामतीर्थ के प्रभाव में आये और उनके व्यक्तित्व में छिपी हुयी शक्ति जागृत हो उठी । वे स्वामी जी के प्रभाव से वेदान्त के करीब आये । यहाँ तक कि उन्होंने संन्यास की दीक्षा भी ले ली । किन्तु उनके संन्यास का तात्पर्य सामाजिक-जीवन तथा कर्ममार्ग का त्याग नहीं था । कर्ममय-जीवन के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी थी । वे शारीरिक श्रम के पक्षधर तथा औद्योगीकरण के विरोधी थे । " कठिन परिश्रम करके अपनी हस्तकला के बलपर भारतवासी कुबेर का महल भी खड़ा कर सकते हैं."[21] इस बात पर उन्हें पूर्ण विश्वास था । उनके इस विश्वास में उनका देश-प्रेम स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

पूर्णसिंह धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे । किसी भी धर्म का दूसरे धर्म के साथ कोई विरोध नहीं है । धर्म के आधार पर मानवता का विभाजन उन्हें सह्य न था । सम्पूर्ण मानवता को समान दृष्टि से देखने के कारण वे वेदान्ती आदर्शों के साथ ही समाजवादी आदर्शों के भी अत्यन्त निकट आ जाते हैं । वेदान्त-प्रदत्त " अभेद-दृष्टि" उन्हें स्वयमेव ऐसे स्तर पर लाकर खड़ा कर देती है कि समाजवाद का "समता" का आदर्श काफी नीचे छूट जाता है । अपने निबन्ध " आचरण की सभ्यता" में उन्होंने लिखा है कि " राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा । बड़े से बड़े पण्डित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पण्डित । वीर में कायर और कायर में वीर सोता है । पापी में महात्माऔर महात्मा में पापी डूबा हुआ है ।"[22]

उनके ये विचार अभेद एवं अद्वैत के आदर्श को उजागर करते हैं, जो "समानता" के लघु आदर्श से काफी महान है ।

संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर लेने के बावजूद पूर्ण सिंह सामाजिक कार्यों एवं संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण मानते थे । जहाँ वैज्ञानिक-समाजवादी विवाह आदि सामाजिक संस्थाओं की, व्यक्तिगत-सम्पत्ति के पोषक होने के कारण, निन्दा करते हैं और इनके उन्मूलन पर बल देते हैं, वहाँ व्यक्तिगत-सम्पत्ति के विरोधी सरदार पूर्ण सिंह इन संस्थाओं की पवित्रता एवं आवश्यकता के प्रति निष्ठावान हैं । विवाह उनके लिए एक यज्ञ है । इस पवित्र कर्म से सामाजिक कार्य की पूर्ति होती है । अपने निबन्ध "कन्यादान" में वे कहते हैं कि " विवाह को मखौल न जानो । यज्ञ का खेल न करो । झूठी खुदगर्जी की खातिर इस आदर्श को मटियामेट न करो । कुल जगत के कल्याण को सोचो ।" [23] उनकी दृष्टि में विवाह लोक-कल्याण के लिये सहायक है । इसका वास्तविक रूप पूर्ण सिंह ने समझा था । विवाह की व्यवस्था भारतीय मनीषियों ने समाज के हित के लिए किया था । इसका उद्देश्य संकुचित यौनतृप्ति एवं वैयक्तिक सुख सुविधा कदापि नहीं था । इसके कुत्सित रूप को देखकर ही शायद आधुनिक युग में वैज्ञानिक समाजवादी इस संस्था के विरोधी हो गये हैं । किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप में यह निश्चय ही मानवता के लिए हितकर है । इसकी पवित्रता का सरदार पूर्ण सिंह ने निश्चय ही अनुभव किया था ।

लौकिक एवं सामाजिक कार्यों के प्रति निष्क्रिय होने पर तप आदि भी व्यर्थ है । इस मान्यता के साथ सरदार पूर्ण सिंह ने अपने विचारों को नया रूप दिया है । " आचारण की सभ्यता" नामक अपने निबन्ध में उन्होंने कहा है-"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा । एक कदम और, और धम से नीचे । कारण केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ , हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ । यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूंक दो । कूच का घड़ियाल बजा दो । कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ ।"[24] इन विचारों पर स्वामी रामतीर्थ के विचारों की स्पष्ट छाप है और इसीलिए ये विचार वेदान्त के साथ ही समाजवाद के भी समीप हैं । पारलौकिक सत्ताओं की साधना से अच्छी है, लौकिक सत्ताओं की साधना। क्योंकि पहला दूसरे को पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है । स्वामी रामतीर्थ ने जिस व्यावहारिक -वेदान्त की स्थापना की थी और जिसे उन्होंने समाजवाद का उच्चतम रूप कहा था , सरदार पूर्ण सिंह के लेखों में उनका पूर्ण निर्वाह किया गया है ।

दान, तप इत्यादि वेदान्त के मूल्यों की उन्होंने नयी व्याख्या की है । परम्परागत रूप में ये अत्यन्त विकृत हो चले थे । इन मूल्यों को सच्चे रूप में पहचानना और उसे स्थापित करना आवश्यक है । स्वर्ग एवं ईश्वर की प्राप्ति के उद्देश्य से दान देना नहीं है ; [illegible]

गई रोटी का दान केवल इसलिये करना कि इससे पुण्य मिलेगा, वास्तव में पापकर्म है । इस प्रकार के भुलावे में आना कि इससे स्वर्ग प्राप्त होगा, अपने को धोखा देना है । "पवित्रता" नामक अपने निबन्ध में उन्होंने कहा है-"स्वर्ग और ईश्वर को अपने ताँबे और चाँदी के रुपयों और सोने के डालरों से खरीदने इधर-उधर मत भागों । भूखे मर रहे हो, खुद खाओ और अपने बाल-बच्चों को खिलाओ और कुछ काल के लिये चुप हो जाओ । अपने बच्चों को विद्यादान दो, बुद्धि दान दो, यही तुम्हारा और यही ईश्वर का स्वर्ग है ।" [25] उनके विचार परम्परा के स्थान पर आधुनिकता की स्थापना करते हुए दिखाई पड़ते हैं । वे आधुनिक मूल्यों के प्रति सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं ।

दान की इस व्याख्या का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि पूर्णसिंह स्वार्थवादी थे । ऐसा समझना नासमझी होगी । वास्तव में इसका व्यापक अर्थ लेना चाहिए । उनका तात्पर्य है कि दान और त्याग का उद्देश्य मानवता की सेवा होना चाहिए, स्वर्ग अथवा ईश्वर की प्राप्ति नहीं । मानव-कल्याण के लिये किया गया दान और तप उचित है, स्वर्ग प्राप्ति के लिये दिया गया दान एक ओर तो दान-कर्ता के स्वभाव को दूषित करता है और दूसरी ओर स्वर्ग के ठेकेदारों के विलास का साधन बनता है । धर्म संघों के नाम पर सामाजिक अत्याचारों को बढ़ावा देना दान, तप इत्यादि को भी दूषित कर देता है ।

सरदार पूर्ण सिंह के लेखों में नारी-पुरुष समानताकी बात अनेक बार आयी है । यह भी स्वामी रामतीर्थ एवं उनके व्यावहारिक वेदान्त का ही प्रभाव था । नारी उद्धार की बात करते हुए सरदार जी ने अपने निबन्धों में विशेष जोर इस ओर दिया है कि कोई भेद-भाव मात्र इस कारण नहीं रखा जाना चाहिए कि अमुक नारी है और अमुक पुरुष । गुण-अवगुण दोनों में हो सकते हैं । "पवित्रता" नामक अपने लेख में उन्होंने कहा है-"जरा अपने शरीर को देखो, जरा बुद्ध के शरीर को देखो, जरा शंकर भगवान के रूप को देखो, जरा बड़े-बड़े महात्माओं के शरीर को देखो, यदि ये शरीर पवित्र हैं, तब उनकी माता का शरीर किस लिये अपवित्र मान लिया । यदि इन सबको पीताम्बर पहनाएं पूजते हो, तब वैराग्य और त्याग में मस्त लोग भला इनकी माताओं को, इनकी बहनों को, इनकी कन्याओं को क्यों नग्न कर रहे हो ।" [26] पाखण्डी धर्मोपदेशकों के विरुद्ध यह कटु आलोचना है । गुण दोष तो सर्वत्र व्याप्त है । केवल नारी में ही इन्हें क्यों देखा जाय । नर-नारी की समानता समाजवाद के आदर्श के अत्यन्त निकट है ।

नारी उद्धार के प्रति भविष्यवाणी भी उन्होंने की है । जब तक समानता का स्तर उन्हें नहीं मिलता, तब तक मानवता का कल्याण नहीं हो सकता, देश एवं समाज की उन्नति नहीं हो सकती ।"पवित्रता " में ही उन्होंने कहा है-" जब तक आर्यकन्या इस देश के घरों और दिलों पर राज्य नहीं करती, तब तक इस देश में पवित्रता नहीं आती । जब तक

देश में पवित्रता नहीं आती, तब तक बल नहीं आता । ब्रह्मचर्य का प्राचीन आदर्श सुख नहीं दिखलाता, देश में पवित्रता लाने का ऐ भगवन् ! अब तो पहला संस्कार भारत कन्या को राज्यतिलक देना है ।"[27] इन शब्दों में छिपा समानता का आदर्श उन्हें वेदान्त और समाजवाद के आदर्शों के समकक्ष लाकर खड़ा कर देता है ।

समता एवं प्रेम जैसे उच्चतर मानव-मूल्यों को पूर्ण सिंह ने पहचाना था । उन्हें इनकी उपयोगिता का ज्ञान था । मनुष्य केवल जैविक एवं भौतिक-मूल्यों के साथ जीवित नहीं रह सकता । इनसे बढ़कर कुछ प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उसमें बनी रहती है । सर्वोच्च मूल्य की प्राप्ति अगर सामान्यतया उसका उद्देश्य न भी हो तो निरन्तर उन्नयन तो अवश्य हो है । ऐसे एक लोक की कल्पना सरदार जी ने अपने निबन्ध में की है, जहाँ इन उच्चतर मूल्यों का साम्राज्य होता है और मानव को मानवता से च्युत करने वाले तत्त्वों का वहाँ अभाव होता है । "आचरण की सभ्यता" नामक लेख में उन्होंने कहा है-" उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक । न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा । न कोई वहाँ धनवान है और न कोई वहाँ निर्धन । वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखण्ड राज्य रहता है ।"[28] यह आदर्श भले ही परमार्थ का विवरण हो, फिर भी यह व्यवहार हेतु "समानता" के मूल्य की सृष्टि अवश्य करता है ।

समता का यह विचित्र चित्रण निश्चय ही स्वामी रामतीर्थ के प्रभाव का परिणाम है । इसमें एक ओर तो वेदान्त सम्मत अभेद झलकता है और दूसरी ओर समाजवाद का आदर्श रूप । समाजवादी समाज का आदर्श । यही है कि ऊँचा -नीचा, निर्धन-धनवान का भेद समाप्त हो जाय । समस्त विरोधों से रहित समाज का यह आदर्श रूप सरदार पूर्ण सिंह के लेखों में भी प्रकट होता है ।

किन्तु समाजवाद और वेदान्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर है । जहाँ समाजवादी इस स्थिति को विद्रोह एवं क्रान्ति द्वारा लाने की बात करते हैं, वहाँ वेदान्त में मानव गुणों के विकास के द्वारा इसे लाने की बात कही गई है । यदि प्रत्येक व्यक्ति क्रियाशील हो तो समानता की संभावना स्वयमेव बढ़ जाती है । पुनश्च दान एवं त्याग का वास्तविक रूप यदि समझ लिया जाय और तदनुसार इनका पालन हो सके, तो निश्चय ही समानता का राज्य स्थापित हो सकता है ।

यह सत्य है कि इन आदर्शों की प्राप्ति इतना सरल नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये मूल्यहीन हैं । भविष्य के प्रति आशावान् होकर ही जीवन को सुखी बनाया जा सकता है और इसी लिए यह भी आशा करना कि मनुष्य में ये सद्गुण विकसित होंगे, व्यर्थ नहीं है । अस्तु स्वामी रामतीर्थ और उनके आदर्श व्याख्याकार सरदार पूर्ण सिंह के इन विचारों को व्यवहार में लाकर मानवता की सेवा की जा सकती है । समाज में व्याप्त अनेक विध असमानताओं को समाप्त करके उसे सुखी एवं सम्पन्न बनाया जा सकता है ।

1- स्वामी रामतीर्थ- इन वुड्स आफ गाड रियलाइजेशन-स्वामी रामतीर्थ प्रकाशन लीग, लखनऊ (भारत) 1950 खण्ड 6 पृ0 167

2- वही, खण्ड 7 पृ0 72

3- वही, खण्ड 6 पृ0 167

4- वही, पृ0 168

5- वही, पृ0 168

6- वही, पृ0 169

7- वही, पृ0 169-170

8- वही, पृ0 170

9- वही, खण्ड 7 पृ0 64

10- वही, खण्ड 6 पृ0171

11- पं0बृजनाथ शर्मा- स्वामी राम : हिज लाइफ एण्ड लिगेसी, स्वामी रामतीर्थ प्रकाशन लीग, लखनऊ (भारत) 1936 पृष्ठ 603-604

12- द्रष्टव्य, वही, पृ0 601-602

13- स्वामी राम तीर्थ, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 4 पृ0 168

14- वही, खण्ड 7 पृ0 177

15- पं0 बृजनाथ शर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 604

16- स्वामी रामतीर्थ, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 6, पृ0 173

17- वही, पृ0 173

18- वही, पृ0 173

19- पं0 बृजनाथ शर्मा, उपरिउदधृत ग्रन्थ, पृष्ठ 605

20- सं0 प्रभात शास्त्री-"सरदार पूर्ण सिंह अध्यापक के निबंध": कौशाम्बी प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, सं0 2020 वि0पृ0 17

21- वही, पृ0 42

22- वही, पृ0 124

23- वही, पृ0 87

24- वही, पृ0 129

25- वही, पृ0 112

26- वही, पृ0 104-5

27- वही, पृ0 107

28- वही, पृ0 131

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द बीसवीं शताब्दी के प्रमुख महापुरुषों में माने जाते हैं। वेदान्त परम्परा के विचारकों में इनका नाम अग्रगण्य है। इनके "समग्र अद्वैतवाद"[1] में अन्य दार्शनिक विवेचनाओं के साथ समाज एवं उसके विकास का चित्र भी दिखाई पड़ता है। इस स्थल पर हमारा उद्देश्य उनके सामाजिक विचारों की विवेचना ही है। वेदान्त-परम्पराके अनुरूप ही अपने राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों को भी श्री अरविन्द ने प्रतिपादित किया है। यही कारण है कि उनकी तत्वमीमांसा के साथ-साथ उनके सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन में भी चेतन-सत्ता की प्रधानता निर्विवाद रूप से दृष्टिगोचर होती है।[2] वास्तव में वही चेतन सत्ता उनके सम्पूर्ण दर्शन को सूत्र की भाँति गूँथे हुए हैं।

श्री अरविन्द के समग्र अद्वैतवाद में लौकिक एवं पारलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक तथा शारीरिक एवं आत्मिक तत्वों का विधिवत समायोजन दिखाई पड़ताहै। "उनके दर्शन में सच्चिदानन्द के संप्रत्यय के रूप में वेदान्त की परम सत्ता तथा विकासात्मक सिद्धान्त में जड़ एवं जीवन को समुचित स्थान प्राप्त है।"[3] "यद्यपि वे जड़ एवं चेतन के सामंजस्य के पक्षधर हैं, फिर भी उनके विचार में भौतिकवाद कभी भी मनुष्य के लिये अन्तिम सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह आध्यात्मिक गतिशीलता से रहित है।"[4] इन विचारों का स्पष्ट अर्थ यह है कि सामाजिक विचारों के क्षेत्र में भी वे

आध्यात्मिकता को प्रधानता देते हैं। यही जड़ जगत् के साथ चैतन्य के समायोजन का अर्थ है। किन्तु यह अरविन्द के दर्शन में सरलता से संभव इसलिये दिखाई पड़ता है, क्योंकि वे विकास को स्वीकार करते हैं और इस विकास में जड़ एवं चेतन का आत्यन्तिक भेद समाप्त हो जाता है। ये दोनों ही विकास की प्रक्रिया की दो स्थितियों के रूप में चित्रित किये गये हैं। सत्य तो यह है कि वही सच्चिदानन्द जड़ एवं चेतन सबकाआधार है।

श्री अरविन्द आधुनिक सामाजिक विचारों से न केवल परिचित थे, अपितु उनमें से कुछ ने उन्हें प्रभावित भी किया था। " अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के योरप में व्याप्त धर्म-निरपेक्षतावादी विचारों तथा सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में मानवतावादी तथा सहिष्णुतान्वादी विचारों से वे अत्यधिक प्रभावित थे। "[5] इन प्रवृत्तियों के पीछे श्री अरविन्द को मानवस्वातंत्र्य की भावना दिखाई पड़ती है। यह स्वतंत्रता चेतन की ओर संकेत करती है। इस युग में शान्ति की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को भी श्री अरविन्द ने आध्यात्मिकता की ओर विकास काएक चरण माना है। शान्ति की स्थापना और युद्धों के विराम की सतत माँग मनुष्य के अभौतिकतावादी प्रवृत्ति का द्योतक है। धर्मनिरपेक्षतावाद को वे उपनिषदीय सृष्टिमीमांसा के अन्न एवं प्राणमय कोशों के साथ जोड़ते हैं।[6] अरविन्द का दर्शन समग्र दर्शन है, इसलिये सामाजिक एवं लोक संबंधी विचारों का प्रतिपादन उनके लिये अनिवार्य था, क्योंकि लौकिक विचारों से रहित दर्शन समग्र नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से उन्होंने बौद्ध मत एवं शांकर वेदान्त को विवर्तवादी कहकर उनका खण्डन भी किया है। उनकी दृष्टि में ये

दर्शन भारत की सामाजिक एवं राजनैतिक दुर्दशा के लिये उत्तरदायी हैं "।[7] यद्यपि उनका यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि बौद्ध दर्शन में जहाँ एक ओर योगाचार विज्ञानवाद और माध्यमिक शून्यवाद है, जो विवर्तवाद के पोषक हैं, वहीं दूसरी ओर सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय भी हैं, जो भौतिक जगत् को सत्य मानते हैं । इसमें भी बड़ी भूल शांकर वेदान्त के प्रसंग में हुई है । आचार्य शंकर जगत् को नितान्त असत् नहीं मानते, इसे विवर्त कहने का उनका एक विशिष्ट अभिप्राय है । समस्त व्यावहारिक आवश्यकता - ओं के लिये जगत् को उन्होंने सत्य ही माना है । जगत व्यवहारतः सत् है, परमार्थतः असत्, इसी लिए उसे विवर्त कहा गया है ।

श्री अरविन्द ने शुद्ध जड़वाद और विवर्तवादी प्रत्ययवाद दोनों को एकांगी और अपूर्ण बताया है । "उनके तत्त्व-दर्शन में जड़ और चेतन का समन्वय हुआ है । वे इन दोनों की स्थिति पारमार्थिक चेतना में स्वीकार करते हैं ।यही उनके वस्तुवादी अद्वैत की शिक्षा है । "[8] इस वस्तुवादी अद्वैत दर्शन का सीधा विरोध विवर्तवादी अद्वैत से है । तात्पर्य यह है कि दोनों ही अद्वैतवादी सिद्धान्त परमतत्त्व के अद्वैत को स्वीकार करते हैं । भेद केवल जगद विषयक विचारों में है । श्री अरविन्द के वस्तुवादी अद्वैत की सिद्धि विकासवाद के सिद्धान्त पर आधारित है । यद्यपि यह सत्य है कि कोई भी वस्तुवादी सिद्धान्त सच्चे अर्थों में अद्वैतवादी नहीं हो सकता, फिर भी श्री अरविन्द ने जगत् को एक निरन्तर विकास के साथ जोड़कर उसे अद्वैत परमतत्त्व तक उठाने का प्रयास अवश्य किया है ।

समाज-दर्शन की दृष्टि से उनका यह प्रयास उनके दर्शन को और अधिक महत्वपूर्ण बना देता है । उनके दार्शनिक परिवेश में अद्वैत की सिद्धि हो सकती है या नहीं, इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वेदान्तपरक सामाजिक विचार सम्भव हैं? इस प्रश्न का समुचित स्वीकारात्मक उत्तर श्री अरविन्द के दर्शन में मिलता है । उन्होंने अपने विचारों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया है कि वेदान्त के अनेक मूल्य समाज के निर्माण में सहायक हैं ।

इस मान्यता की सिद्धि के लिये उन्होंने सर्वप्रथम मायावाद के प्रचलित स्वरूप का खण्डन किया और इसे एक परिवर्तित भावात्मक रूप भी दिया । ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ में हुआ है । [9] " इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते" यह सिद्ध करता है कि माया का वर्णन इन्द्र की शक्ति के रूप में किया गया है । बाद के वेदान्त दर्शन में इस शब्द का अभिप्राय जगत् की रचना के सामर्थ्य के रूप में होने लगा। अरविन्द ने माया को दैवी-शक्ति के रूप में माना है, यही शक्ति सम्पूर्ण विभिन्नताओं की सृष्टि करती है । यह सृष्टि वास्तविक है । सृष्टि के वास्तविक होने के कारण ही श्री अरविन्द सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के दर्शन को स्वीकार करते हैं । [10]

तार्किक कसौटी पर शंकर का जगत्-मिथ्यात्व का सिद्धान्त अत्यन्त खरा उतरा है, किन्तु इस सिद्धान्त के सामाजिक एवं राजनैतिक परिणाम

अत्यन्त आपत्तिजनक हैं । यह भी आरोप लगाया जाता है कि मायावाद का यह आत्यन्तिक रूप भारत में इस्लाम के आगमन के बाद प्रचलित हुआ ।[11] किन्तु यह आक्षेप असंगत है । स्वयं आचार्य शंकर इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व हुए थे और मायावाद का यह रूप तो शंकर से पहले भी गौड़पाद के "अजातिवादी" सिद्धान्त में दिखाई पड़ता है । इन ऐतिहासिक तथ्यों के होते हुए इस सिद्धान्त को इस्लाम के प्रभाव से उत्पन्न मानना असंगत है । इतना अवश्य सत्य है कि सामान्यत: जगत् का मिथ्यात्व किसी भी सामाजिक अथवा राजनैतिक सिद्धान्त के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता, किन्तु इस बात का भी निराकरण इस तथ्य से हो जाता है कि जगत् व्यवहारत: सत्य है और सामाजिक तथा राजनैतिक सिद्धान्त भी व्यावहारिक जगत् के लिये ही है । अत: शंकर के दर्शन में इनको स्थापना के लिये पर्याप्त स्थान है । यह जगत् परिवर्त-शील है, इस बात में शंकर भी विश्वास करते हैं । यद्यपि उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन की रचना अवश्य नहीं की है, किन्तु उनकी इस मान्यता पर आधारित जो भी सामाजिक-राजनैतिक दर्शन बनेगा, वह परिवर्तन का दर्शन होगा ।

आचार्य शंकर ने जो दर्शन दिया वह जगत् की पारमार्थिक असत्यता पर अधिक जोर देता है । श्री अरविन्द ने इस प्रणाली में केवल इतना परिवर्तन किया है कि वे जगत् की व्यावहारिक सत्यता पर अधिक जोर देते हैं । दोनों मान्यताओं में कोई मौलिक भेद नहीं हैं, भेद केवल वर्णन का है ,

जैसे आधे गिलास पानी का वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है -
" गिलास पूरा भरा नहीं है", और " गिलास पूरा खाली नहीं है"।
इन दोनों कथनों में एक ही तथ्य का वर्णन किया गया है ।

आधुनिक भारतीय विचारकों में मायावाद की अद्वैत वादी व्याख्या का खण्डन इस कारण हुआ है, क्योंकि इस युग पर भौतिकवाद की ओर उन्मुख पाश्चात्य सभ्यताका प्रभाव भारतीय समाज पर बहुत अधिक पड़ा है ।[12] पाश्चात्य सभ्यता ने अपनी वैज्ञानिक-प्रगति के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि जगत् सत्य है । इसी कारण आधुनिक भारतीय विचारकों ने भी जगत् के मिथ्यात्व को अस्वीकार कर दिया । इन्हीं भारतीय विचारकों ने यह मत व्यक्त किया कि ईश्वर की सेवा असहाय, गरीब और शोषितों की सेवा से भिन्न नहीं है । उपनिषदों के सिद्धान्तों में ईश्वर काजगत् में व्याप्त होना मिलताहै और इसे आधार बनाकर राष्ट्रीय-कार्य एवं सामाजिक-सेवा को इससे जोड़ा गया ।[13]सामान्यत: भारत के राजनैतिक पतन का कारण इसी जगत् मिथ्यात्ववादी मायावाद को माना जाता है । किन्तु यह आक्षेप प्रमुखत: पाश्चात्य विद्वानों ने किया है । इसमें आंशिक सत्य हो सकता है, किन्तु पूर्णरूपेण इसे सत्य नहीं माना जा सकता। प्राय: ऐसा हुआ है कि मायावाद को समझने में विद्वानों ने गलती की है । जो लोग इसका खण्डन करते हैं, वे भी जगत् को पारमार्थिक सत् नहीं कह सकते । आज विज्ञान ने भी विश्व की संर-चना का जो सिद्धान्त दिया है, उसमें इसे परमसत् नहीं माना जाता ।

जगत् के स्वरूप की अनिश्चितता, अवक्तव्यता अथवा अनिर्वचनीयताका आभास आज के वैज्ञानिक सिद्धान्तों से भी होता है । अतः इसे परमार्थतः सत् मानना असंगत है ।

श्री अरविन्द ने जगत् को सत् कहा है और इसके आधार पर राजनैतिक एवं सामाजिक दर्शन भी दिया है, किन्तु उनका यह दर्शन भी जगत् को सोद्देश्य विकास में संलग्न मानता है, और इस विकास का लक्ष्य पारमर्थिक परम-चेतना की प्राप्ति है । उन्होंने इस परमसत् और जगत् के बीच विकास की कुछ और स्थितियों को स्वीकार किया है, इनसे सत् और मिथ्या के बीच की रिक्तता समाप्त हो जाती है । इस परम चेतना को श्री अरविन्द ने परमन ।सुपरमाइन्ड। कहा है । श्री अरविन्द के सामाजिक तथा राजनैतिक दर्शन में भी इस विचार का महत्वपूर्ण स्थान है, इसे राजनीतिक जीवन और राष्ट्र की उन्नति में भी उपयोगी माना गया है । श्री अरविन्द ने तो यहाँ तक कहा है कि यह विचार प्रशासन और सरकारों की सृष्टि और संहार करता है ।[14]

श्री अरविन्द के मन में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी थी । " वे प्रजातांत्रिक सरकार के पक्षधर थे और पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता उनका राजनैतिक आदर्श था ।"[15] उनके इन विचारों में वेदान्त दर्शन की छाप दिखाई पड़ती है । स्वतंत्रता के प्रति उनकी तीव्र अभिलाषा मुक्ति के प्रत्यय का स्मरण दिलाती है । व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा के वे पक्षधर थे और इसी लिए उन्होंने प्रजातांत्रिक सरकार को अपना आदर्श माना । उनकी राष्ट्रीय चेतना में वेदान्त के तत्वों का समावेश इस तथ्यकी भी पुष्टि

करता है कि वेदान्त दर्शन समाज से अलग हटा हुआ दर्शन नहीं है । व्यक्ति और समाज का अनिवार्य सम्बन्ध है । " राष्ट्रीय भावना के साथ वेदान्तदर्शन का समन्वय करके उन्होंने अपने राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों को रूप दिया । स्वराज की चर्चा उसे नहीं ला सकती । स्वराज्य को जीने से ही वह आने को बाध्य होगी ।"[16] उनके ये कथन स्वराज्य के सच्चे अर्थ को प्रकट करते हैं ।

मानव एकता के आदर्श के रूप में श्री अरविन्द ने विश्व-एकता के आदर्श को स्वीकार किया है । डा०वी०पी०वर्मा ने कहा है कि " उनके अनुसार राष्ट्रीय साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय अभिमान की भावनाएं मानव एकता के लिये हानिकारक है ।"[17] राष्ट्रीय जीवन को दो स्तरों में विभाजित करने का विचार श्री अरविन्द ने दिया है । प्रथम स्तर राष्ट्र-एकीकरण और दृढ़ीकरण के लिये होता है, द्वितीय स्तर पर जब वह सुदृढ़ इकाई बन जाता है, तब इकाई के रूप में अपनी सत्ता को कायम रखते हुए उसे अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये स्थान छोड़ देना चाहिए। इस स्थिति की तुलना करते हुए उन्होंने कहा है कि " यह वैसे ही संभव है, जैसे व्यक्ति अपना स्थान परिवार में, परिवार वर्ग में और वर्ग राष्ट्र में रखता है ।"[18]

श्री अरविन्द व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर थे, इसी कारण समष्टि में व्यष्टि को समाहित करते हुए भी वे व्यष्टित्व को सुरक्षित रखने के लिए

कहते हैं । किन्तु उनके सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों का सर्वोच्च लक्ष्य मानव जाति की तात्विक एकता ही थी ।[19] यह तात्विक एकता का सिद्धान्तवेदान्त दर्शन के अभेद प्रत्यय का रूपान्तरण है । इस कथन में यह मान्यता अन्तर्निहित है कि तत्वतः सब एक हैं । " सर्वखल्विदं ब्रह्म" और " नेह नानास्ति किंचन" के औपनिषदिक आदर्शों की झलक इससिद्धान्त में दिखाई पड़ती है । भेद व्यावहारिक हैं परमार्थतः अभेद ही सत्य है । यह बात भी श्री अरविन्द के विचारों में छिपी है ।

श्री अरविन्द साम्राज्यवादके विरोधी थे । इस विरोध काकारण उनकी उत्कृष्ट राष्ट्रीयता की भावना थी । इसी कारण उन्होंने यूरोप की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का भी विरोध किया ।[20] साम्राज्यवाद पूँजीवाद की ही विकसित अवस्था है । यद्यपि साम्राज्यवाद का विरोध समाजवाद की स्थापना का द्योतक है, किन्तु श्री अरविन्द ने इसकाविरोध उन आधारों पर नहीं किया , जिन आधारों पर मार्क्स और लेनिन ने किया था । इससमस्या के प्रति उनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक और राजनैतिक था । श्री अरविन्द के अनुसार साम्राज्य केवल राजनैतिक इकाइयों का नाम है, इसकीवास्तविक सत्ता नहीं होती ।[21] अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्होंने आस्ट्रिया और हंगरी के साम्राज्यों का उदाहरण दिया है । साम्राज्यवाद वास्तव में राष्ट्रीय अहंकार के आक्रामक विकास का नाम है । प्रथम विश्व युद्ध जर्मनी के कठोर साम्राज्यवाद और इंगलैण्ड

के उदार साम्राज्यवाद के बीच लड़ा गया । साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध श्री अरविन्द ने मानव-एकताके लिये किया है । यद्यपि यह पारिभाषिक अर्थ में समाजवाद नहीं है, क्योंकि केवल मानव-एकता से समाज-वाद का सम्पूर्ण अर्थ नहीं निगमित होता, फिर भी यह ऐसा सामाजिक विचार है, जिसके द्वारा मानव-जाति को समाजवाद से मिलने वाले मूल्यों की अपेक्षा उच्चतर मूल्य प्राप्त हो सकते हैं ।

मानव-एकता के आदर्श स्वरूप की स्थापना के लिए श्री अरविन्द राष्ट्रीयता को एक क्रम के रूप में उचित मानते हैं । व्यक्ति परिवार में परिवार सामाजिक वर्ग में और सामाजिक -वर्ग राष्ट्र में समाहित होते हैं । " जिस प्रकार व्यक्ति काअस्तित्व परिवार में, परिवार का अस्तित्व सामाजिक वर्ग में , सामाजिक वर्ग का अस्तित्व राष्ट्र में समाहित होने पर भी बना रहताहै, उसी प्रकार सम्पूर्ण मानवताअथवा अन्तर्राष्ट्रीयता में समाहित होकर भी विभिन्न राष्ट्रों का अस्तित्व बना रहता है । श्री अरविन्द राष्ट्रीयता के संकुचित अर्थ के पोषक नहीं थे, उन्होंने सदैव मानव मात्र की एकता का ही पक्ष लिया । "[22] श्री अरविन्द ने कहा है कि " हमारा देशभक्ति काआदर्श प्रेम और भ्रातृत्व पर आधारित है, जो राष्ट्र की एकता के परे सम्पूर्ण मानवता की एकता को देखता है । "[23]

श्री अरविन्द के ये विचार महात्मा गांधी के विचारों के समतुल्य हैं । गांधी जी राष्ट्रीय-एकताऔर राष्ट्रीय-स्वतंत्रताको विकास के क्रम

में एक स्थिति विशेष के रूप में स्वाकार करते थे । भारतीय स्वतंत्रता को उन्होंने साध्य कभी नहीं समझा । वे इसे मानव-कल्याण का साधन मानते रहे । इसकी आवश्यकता को साधन के रूप में स्वीकार करते थे । यूरोप में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन जर्मनी के मानवतावादी विचारकों ने किया है । इस प्रसंग में विशेष रूप से मैज़िनी का नाम उल्लेखनीय है । मैज़िनी भी राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का एकचरण मानता है । [24]

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के कुछ असफल प्रयासों की चर्चा भी श्री अरविन्द ने इस प्रसंग में की है । ऐसे प्रयासों में प्रमुख रूप से उल्लेख्य सिकन्दर का आक्रमण था, जो अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में असफल रहा । इसका प्रमुख कारण राष्ट्रीयता के विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का प्रयास था । वास्तव में यह विकास तीन चरणों में पूरा होता है । इसके विकास का प्रथम चरण 18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था, और इसका एक अस्पष्ट रूप फ्रांस की क्रान्ति के काल में दिखाई पड़ता है । द्वितीय चरण में इसका संबंध 19वीं शती के उभरते हुए समाजवाद और अराजकतावाद के आदर्शों के साथ हुआ । विकास के इस द्वितीय चरण में अन्तर्राष्ट्रीय-तावाद का स्वरूप काफी निखर चुका था, किन्तु इस काल तक भी यह केवल बुद्धिजीवियों के विचारों तक सीमित रहा। इसका तृतीय चरण प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ शुरू होता है । प्रथम विश्वयुद्ध में अनेक ऐसी शक्तियाँ उभरकर सामने आईं जो समस्त विश्व की एकताके पथ में सहायक

बनीं । जर्मन-साम्राज्यवादी नीति का उन्मूलन, रूस की औद्योगिक क्रान्ति का स्वतंत्र राष्ट्रीयता का नारा इन शक्तियों में प्रमुख थे । इन परिस्थितियों में विश्व-एकता का तृतीय चरण विकसित हुआ, जिसके फलस्वरूप आज भी इस दिशा में अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं । [25]

मानव एकता के तीन सम्भव मार्ग हैं । प्रथम विकल्प के रूप में केन्द्रीय विश्व-राज्य की कल्पना की गयी है, किन्तु श्री अरविन्द इसका खण्डन करते हैं, क्योंकि यह यांत्रिक होने के कारण राष्ट्रों की स्वायत्त-भावना को समाप्त कर देता है । द्वितीय विकल्प शसक्त संघीय व्यवस्था के रूप में सुझाया गया है, किन्तु यह भी राष्ट्रों की वैविध्यपूर्ण आत्माभिव्यक्ति के लिये बाधक है । तृतीय विकल्प निर्बल संगठन के रूप में सुझाया गया, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों की विशिष्टता सुरक्षित रहती है, किन्तु यह भी स्थायी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि निर्बल होने के कारण इसके विघटन की संभावना बनी रहती है । श्री अरविन्द इस समस्या के निदान के लिये मानवता के आध्यात्मिक धर्म को साधन बनाते हैं । यही धर्म मानव-एकता को ठोस आधार प्रदान कर सकता है । [26]

विश्व-एकता की स्थापना को श्री अरविन्द चार शर्तों पर आधारित मानते हैं । [27] प्रथम राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए युद्ध के साधन के रूप में प्रयोग की पूर्ण रूप से समाप्ति । द्वितीय सभी मनुष्यों को

आत्मप्रतिष्ठा के अधिकार की प्राप्ति । तृतीय लोगों के आर्थिक-जीवन को परस्पर सहयोग के माध्यम से व्यवस्थित करना और चतुर्थ मानवता के धर्म का, जो विश्व-एकताका मौलिक मनोवैज्ञानिक आधार है, पालन और प्रचार । इन शर्तों के आधार पर विश्व-एकताकी स्थापनासंभव है । यह स्थापना बलपूर्वक नहीं की जाती , इसलिए स्थायी होगी ।

श्री अरविन्द के इन विचारों पर वेदान्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है । वेदान्त के अभेद और अद्वैत के संप्रत्यय का विकास यहाँ समताऔर एकता के रूप में हुआ है । आध्यात्मिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के रूप में परिवर्तित करने पर उनके स्वरूप में इतना परिवर्तन स्वभावत: आ जाता है । विश्व-एकता की कल्पना की उत्पत्ति यद्यपि यूरोपीय मस्तिष्क से मानी जाती है, किन्तु जिस रूप में वह श्री अरविन्द के विचारों में दिखाई पड़ती है, वह वेदान्त दर्शन के प्रभाव से ही है । [28] मानवताऔर मानव मात्र की एकताकी सबसे बड़ी देन यह है कि इससे विश्व में मानव के अस्तित्व और उसके महत्व का पता चलता है ।

आधुनिक युग में इसका विकास इस स्तर तक हुआहै कि इसने विश्व संचालनके लिये ईश्वर के महत्व को भी समाप्त कर दिया है । आज मानवता-वाद का यह सामाजिक-दृष्टिकोण जीवन की स्वतंत्रविधा के रूप में माना जाता है । इसके फलस्वरूप मानव सृष्टि का केन्द्र बन गया है । श्री अरविन्द मानवता को ठीक उसी अर्थ में नहीं मानते जिस अर्थ में पाश्चात्य विचारकों ने

माना है । उनके अनुसार" मानवतारहस्यमय, आध्यात्मिक, सर्वनियन्ता सत्ताकी सर्वव्यापकता का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है ।"[29]

मानवता कायह संप्रत्यय श्री अरविन्द के समग्र अद्वैतवाद का प्रतिबिम्ब है । इसे वे ईश्वर की अनुभूति का वास्तविक साधन मानते हैं । मानवतावाद मानव के अस्तित्व को अधिक महत्वपूर्ण मानता है । अस अर्थ में यह समाजवाद का विरोधी प्रतीत होता है । किन्तु इसके द्वारा दी गयी समाज व्यवस्था मानव-हित के प्रति समाजवाद कीअपेक्षा अधिक उन्मुख है । पुनश्च" मानव" का अर्थ व्यष्टिगत नहीं अपितु समष्टिगत है । दोनों ही व्यवस्थाएं समता के आदर्श को स्वीकार करती हैं, अतः इनकी सामाजिक उपयोगिता के आधार पर इन्हें समान भी माना जाता है । श्री अरविन्द का मानव-एकता का आदर्श समाजवाद के आदर्श से उच्चतर है ।

श्री अरविन्द समाजवाद के विषय में कुछ नये विचार प्रस्तुत करते हैं । वे समाजवाद को राज्य-शक्ति के अर्थ में मानते हैं और इसी रूप में उसकी आलोचना भी करते हैं । उनकी मान्यता है कि राज्य का सिद्धान्त अनिवार्यतः एकरूपता, नियंत्रण और यांत्रिकीकरण की ओर बढ़ताहै, जिसका अपरिहार्य लक्ष्य समाजवाद है । वे राजनैतिक और सामाजिक विकास के क्षेत्र में अनिश्चितता को स्वीकार करते हैं, अतः समाजवाद का उद्भव भी उनके अनुसार कोई ऐसी घटना नहीं है, जो न घटती । " यह तो

राज्य-प्रत्यय के बीज में निहित अनिवार्य परिणाम है । "[30] राज्य की उत्पत्ति के साथ ही उसमें अन्तर्निहित विरोधों की भी उत्पत्ति हुई । राज्य को निरपेक्ष शक्ति सम्पन्न सत्ता मानकर इसके जिस स्वरूप की रचना हुई है, उसमें अनेक नैतिक एवं बौद्धिक अवरोधों के कारण क्रान्ति के बीज अन्तर्निहित हैं । श्री अरविन्द राजनैतिक एवं सामाजिकविकास को इतिहास के विकास की प्रक्रिया के साथ जोड़ते हैं । इस विकास क्रम में राज्य की उत्पत्ति एक विशिष्ट स्थिति के रूप में होती है और फिर इसमें अनेक परिवर्तन भी उस विकास क्रम में होते जाते हैं । श्री अरिविन्द समाजवाद के आर्थिक एवं सामाजिक समता से अत्यधिक प्रभावित थे, किन्तु वे इसके कठोर अधिनायकतंत्र के विरोधी थे । समाजवाद अपने प्रचलित रूप में व्यक्ति स्वातंत्र्य का विरोधी है । श्री अरविन्द यह मानते थे, कि " राज्य का नियंत्रण और निर्देश ही समाजवाद का मूलतत्त्व है । "[31] समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की अनन्त शक्ति व्यक्ति के सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करती है । राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप सामाजिक जीवन को जीने योग्य नहीं रहने देता । राज्य वास्तव में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु इसे इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए कि अन्य संस्थाएं निरर्थक लगने लगें। समाजवाद के अन्तर्गत राज्य के जिस स्वरूप की कल्पना की गयी है, वह इसी प्रकार की है । मैक्सवेबर के विचार से " समाजवाद सर्वहारा के अधिनायकतंत्र का पक्षधर न होकर राज्य कर्मचारियों के निरंकुश शासन का पक्षधर है । "[32] इस रूप मेंभीवह पूर्वोक्त दोषों से मुक्त नहीं हो पाता ।

समाजवाद के अन्तर्गत सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समता लाने के लिये शोषण को समाप्त करने की बात कही गयी है। यह एक आदर्श के रूप में निश्चय ही एक अच्छा सिद्धान्त है, किन्तु इसआदर्श को प्राप्त करने के लिये या तो प्रभुत्व सम्पन्नराज्य को साधन बताया गया है या वर्ग-संघर्ष को। ये दोनों ही साधन अनुचित हैं। अनुचित साधनों से कोई भी उचित साध्य प्राप्त नहीं होता, इसलिये उचित साध्य के लिए उचित साधन का होनाआवश्यक है। इसके लिए लोकतांत्रिक साधनों को अधिक उचित माना गया है। ये साधन यांत्रिकता के स्थान पर स्वतंत्रता का प्रयोग करते हैं और इससे मानव को उन्मुक्त विकास का अवसर प्राप्त होता है।

मार्क्स के सिद्धान्त में साम्यवाद के दो स्तर हैं। प्रथम स्तर पर पुरानी पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के बाद नयी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए एक निरंकुश राज्य की आवश्यकता होती है। इसे वह "सर्वहारा का अधिनायकतंत्र" कहता है। द्वितीय स्तर पर शोषण एवं असमानता समाप्त हो जाने के कारण राज्य की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है और यह स्वयं विघटित हो जाता है। श्री अरविन्द मार्क्स के सिद्धान्त की इस द्वितीय स्तर की वास्तविकता पर संदेह करते हैं। वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में यह संभव नहीं लगता कि राज्यहीन साम्यवाद का रूसी आदर्श सफल हो सकेगा।[33] रूसी क्रान्ति से लेकर आज तक रूस, जर्मनी, हंगरी, युगोस्लाविया,

और चीन आदि देशोंमें जिस प्रकार के शासनों की स्थापना हुई उनके क्रिया-कलापों से और वर्तमानदशक में, विशेषकर गोर्बाच्योव के शासनकाल में, जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि राज्यहीन समाज की मार्क्सवादी कल्पना केवल कल्पना है ।

श्री अरविन्द मार्क्सवाद को एक नयी दृष्टि से देखते हैं । उन्होंने इस सिद्धान्त में कुछ रहस्यवादी और धार्मिक तथ्यों को खोजा है । जहाँ मार्क्स समाजवाद को सामाजिक एवं आर्थिक बौद्धिकीकरण का सिद्धान्त मानता था और इसे विज्ञान और तर्क पर आधारित मानता था, वहाँ श्री अरविन्द की मान्यता है कि यह सिद्धान्त क्रान्तिकारी रहस्यवाद को स्थान देता है ।[34] इस संदर्भ में समाजवाद को उन्होंने प्राचीन एवं मध्यकालीन यूरोप के रहस्यवादी सिद्धान्तों के समक्ष रखा है । एक रहस्य का अंश देश और काल के अनुसार समाजवाद के स्वरूप को बदल देता है । विश्व के विभिन्न समाज-वादी राज्यों में एकरूपता नहीं दिखती । यह इस बात का प्रमाण है कि समाजवाद का स्वरूप किसी भी देश की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परम्पराओं के अनुसार बदल जाता है एक ही सिद्धान्त -मार्क्सवाद पर आधारित होने पर भी " रूस के समाजवाद" और " चीन के समाजवाद" में भारी भेद दिखाई पड़ता है । इसका अभिप्राय यह है कि समाजवाद के साथ ऐसे तथ्य जुड़े हैं, जो व्यक्ति-निष्ठता, देशकाल-सापेक्षता तथा परम्परा को स्थान देते हैं ।

श्री अरविन्द सामाजिक लोकतंत्र के विरोधी थे । इस विरोध का एकमात्र कारण इस सिद्धान्त की द्विविधापूर्ण स्थिति है । उनका कथन है कि " इस सिद्धान्त की अनिश्चयपूर्ण नीति के कारण ही अनेक देशों में निरंकुशतावाद तथा तानाशाही का जन्म हुआ। "[35] श्री अरविन्द समाजवाद के समतावादी सिद्धान्त के पक्षधर थे, किन्तु राज्य-निरंकुशता के सिद्धान्त से वे अत्यधिक क्षुब्ध थे । उन्होंने जिस बात की कल्पना की थी कि एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब समाजवाद साम्राज्यवादी नीति का पालन करेगा, वह कल्पना आज साकार हो कर दिखाई पड़ती है । आज साम्यवादी राज्य विश्वस्तर पर अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए साम्राज्यवादी-नीति का पालन कर रहे हैं । रूस द्वारा हंगरी और चेकोस्लोवाकिया का दमन औरचीन द्वारा तिब्बत काहनन इसका स्पष्ट उदाहरण है । डा० वी०पी०वर्मा के अनुसार" वे फासीवाद के भी विरोधी थे और यह मानते थे कि इटली के फासीवाद में भी एक समाजवाद की भावना उत्पन्न हुई थी, जो आलोकतांत्रिक थी, और असमानता को आधार मानती थी ।"[36] इन विचारों में ऐसा दिखाई पड़ता है कि श्री अरविन्द समाजवाद को एक अत्यन्त लचीले सिद्धान्त के रूप में मानते थे, जिसे कोई भी रूप दिया जा सकता है । यद्यपि समाजवाद अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है और इसके स्वरूप में परिवर्तन भी होता है, किन्तु फिर भी वह इतना लचीला नहीं है कि अपने विरोधी सिद्धान्तों को भी अपने अन्दर समेट सके । श्री अरविन्द ने जिस रूप में इसका चित्रण किया है, वह कुछ ऐसा ही रूप है ।

समाजवाद के भविष्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यह सिद्धान्त आने वाले समय में व्यक्ति की स्वतंत्रता काविरोधी भी नहीं रहेगा । यद्यपि वैयक्तिक स्वतंत्रता का समाजवाद से व्यवहारतः विरोध है, किन्तु सैद्धान्तिक रूप से व्यक्ति की स्वतंत्रता का समाजवाद से कोई विरोध नहीं है । उन्होंने यह भी कहा है कि " वर्तमान समाजवादी राज्य सच्चे अर्थों में समाजवादी नहीं हैं । ये केवल कठोरराज्य -समाजवादी कहे जा सकते हैं ।"[37] समाजवाद के उस स्वरूप के कारण जो सब को सुखी और सम्पन्न देखता है, उसका भविष्य उन राज्यों में अधिक उज्जवल दिखाई पड़ता है, जो अपेक्षाकृत अल्प विकसित और गरीब हैं । यह भी प्रतीत होता है कि समाजवादी क्रान्ति के लिए मार्क्स द्वारा वर्णित स्थितियों में से सभी आवश्यक नहीं हैं । इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि समाजवादी-क्रान्ति पूंजीवाद के आगमन के पूर्व भी संभव है । इससे ऐसा लगता है जैसे समाजवाद का आगमन ठीक उसी मार्ग से नहीं हो रहा है, जिस मार्ग से उसके आगमन का वर्णन मार्क्स करता है । मार्क्स द्वारा वर्णित विधि में समाजवाद का सर्वप्रथम आगमन उन राज्यों में होना चाहिए, जो औद्योगिक दृष्टि से विकसित है, किन्तु यूरोपऔर अमेरिका के किसी भी ऐसे राज्य में, जो औद्योगिक विकास की पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं, समाजवाद के आगमन का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता । दूसरी तरफ ऐसे अल्पविकसित राज्यों में, जो औद्योगिक विकास में पिछड़े हैं, समाजवादी-क्रान्ति हुई है और इसके द्वारा समाजवाद की स्थापना भी हुई । स्वयं रूसी क्रान्ति भी इसका

अपवाद नहीं जो मार्क्स के सिद्धान्तों पर आधारित विश्व की प्रथम समाजवादी क्रान्ति थी क्योंकि उन दिनों रूस औद्योगिक दृष्टि से अविकसित खेतिहर देश था ।

इन परिस्थितियों के आलोक में श्री अरविन्द ने समाजवाद को एक ऐसे सामाजिक सिद्धान्त के रूप में, जो सब को सुखी और सम्पन्न बनाता है, एशिया के देशों के लिए आने वाले युग का धर्म स्वीकार किया है । समाजवाद का भविष्य यूरोप की अपेक्षा एशिया और अफ्रीका में अधिक उज्ज्वल है । इस निष्कर्ष में यह बात अन्तर्निहित है कि मार्क्स द्वारा वर्णित समाजवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्थान नहीं देता है और दूसरी बात यह कि समाजवाद की स्थापना के लिये मार्क्स द्वारा वर्णित विधि एकमात्र विधि नहीं है और न ही वह वैज्ञानिक है । वास्तविकता यह है कि मानव और उसके समाज का विकास यांत्रिक और नियत विधि से नहीं होता । वह उद्देश्य-परक है और इसी अर्थ में शुद्ध जड़ जगत् के विकास से भिन्न भी है । विकास की यांत्रिक और वैज्ञानिक विधि केवल जड़ जगत् तक ही वैध है । चेतन जगत् में अन्य विधि ही कार्य करती है और वह उद्देश्यमूलक है । समकालीन युग के प्रायः समस्त राजनैतिक सिद्धान्तों का श्री अरविन्द ने खण्डन किया है । इस दृष्टि से वे लोकतंत्र की भी आलोचना करते हैं, क्योंकि यह बहुमतवाद से दूषित होता है । पूँजीवाद समाज के हितों की रक्षा नहीं कर पाता, अतः सदोष है । समाजवाद यद्यपि समानता को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में यह असफल

ही रहता है । डा० वी०पी० वर्मा के अनुसार एक समुचित राजनैतिक व्यवस्था के रूप में उन्होंने " समाज के आध्यात्मिक अभ्युत्थानको स्वीकार किया है, जिसमें शासन आन्तरिक होताहै और जो सच्चे आत्म-साक्षात्कार, समष्टि के साक्षात्कार, पर आधारित हैं ।" [38]

स्वतंत्रता सामाजिक, राजनैतिक एवं तत्व-मीमांसीय दृष्टियों से अत्यन्त आवश्यक है । सामाजिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए अनेक आन्दोलन हुए । राजनैतिक स्वतंत्रता के लिये हुए आन्दोलनों में फ्रांस की क्रान्ति उल्लेखनीय है, जिसमें समानता और भ्रातृत्व के साथ स्वतंत्रता को भी एक आधार माना गया था । इस स्वतंत्रता को अनेक रूपों में परिभाषित किया गया है, किन्तु इसके सही स्वरूप का ज्ञान तत्वमीमांसीय स्वतंत्रता के प्रत्यय से ही होता है । तत्वमीमांसीय स्वतंत्रता में समस्त प्रकार के बन्धनों से छुटकारा की बात कही जाती है । स्वतंत्रता की इस परिभाषा के अनुसार वेदान्त-दर्शन का परमतत्व -ब्रह्म ही एक मात्र स्वतंत्र सत्ता है । अद्वैत-वेदान्त की मान्यताहै कि प्रत्येक जीव तत्वत: ब्रह्म हैं और वह इस परम स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है । सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में यद्यपि इस कोटि की स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता असंभव है, क्योंकि सांसारिक जीवन शरीर-बंधन के साथ होता है । किन्तु स्वतंत्रता के इस प्रत्यय के आलोक में व्यावहारिक स्वतंत्रता का विचार बनताहै । श्री अरविन्द स्वतंत्रता के इसी रूप को मानते थे । सृष्टि की यांत्रिक अनिवार्यता के स्थान पर स्वतंत्रता की स्थापना के लिये स्थायी आध्यात्मिक अनुभव ही

वास्तविक कारण बनता है ।" इस अनिवार्यता को व्यक्तिगत जीव नहीं जीत सकता, इसे वही जीत सकता है, जो आध्यात्मिक पूर्णता का अनुभव करता हो ।"[39] इन विचारों में एक बात स्पष्ट है कि स्वतंत्रता आध्यात्मिकता से ही संभव है और चूँकि सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता आवश्यक मानी जाती है, इसलिये समाज एवं राजनीति को भी आध्यात्मिकता का आश्रय लेना पड़ेगा । डा० वी०पी०वर्मा की मान्यता है कि " श्री अरविन्द का सबसे बड़ा योगदान यही है कि उन्होंने धर्म-निरपेक्ष एवं वैज्ञानिक आधुनिक विश्व के लिये प्राचीन आध्यात्मिक स्वतंत्रता की स्थापना की है ।"[40] इस आध्यात्मिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक अथवा आर्थिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होता । अतः यह योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है ।

तत्त्वमीमांसीय स्वतंत्रता भारतीय विचारों में उत्पन्न हुई, इसके अनेक रूप प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी मिलते हैं । श्री अरविन्द अपने दर्शन में स्वतंत्रता के इसी रूप को विकसित करते हैं । किन्तु वे सामाजिक एवं राजनैतिक विचारक भी थे, अतएव उक्त स्वतंत्रता के इसी रूप से उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता को भी निगमित किया है । स्वतंत्रता का प्रचलित व्यवाहारिक रूप पाश्चात्य जगत् की देन है । श्री अरविन्द ने अपने वक्तव्यों में कहा है" वे पाश्चात्य विचारक थे वे बाह्य स्वतंत्रता की खोज किये हैं । हम भारतीयों ने आन्तरिक स्वतंत्रता का मार्ग खोजा है ।

हम उनसे बाह्य-स्वतंत्रता का मार्ग सीखते हैं और वे हमसे आन्तरिक स्वतंत्रता का ।"[41] श्री अरविन्द के स्वतंत्रता सम्बन्धी ये विचार के0सी0 भट्टाचार्य के स्वराज संबंधी विचारों के समतुल्य है । प्रो0 भट्टाचार्य भी स्वराज को आन्तरिक मानते हैं, जिसका उल्लेख शोध प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में किया जा चुका है ।

इसी आन्तरिक एवं बाह्य स्वतंत्रता के अनुरूप दो और शब्द मिलते हैं स्वराज्य और स्वाधीनता । डा0 वी0पी0 वर्मा ने लिखा है- " वैदिक साहित्य में स्वराज शब्द राजनैतिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उपनिषदों में इसको तत्वमीमांसीय अर्थ दिया गया है, और इसका अर्थ होताहै, प्रवृत्तियों और भावनाओं पर विजय प्राप्त करके दैवी साम्राज्य को जीतना ।"[42] इस शब्द के अर्थों में यह परिवर्तन वैदिक-समाज और उपनिषदिक-समाज के अन्तर को स्पष्ट करता है । उपनिषद् काल में इसका अर्थ आत्म-विजय था, जो मोक्ष का पर्यायवाची है। इस प्रकार स्वराज शब्द पूर्ण-स्वातंत्र्य का वाचक है । स्वाधीनता काअर्थ है राजनैतिक स्वतंत्रता । इस प्रकार स्वाधीनता बाह्य स्वतंत्रता है । आन्तरिक स्वतंत्रता का क्षेत्र बाह्य स्वतंत्रता के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है । दार्शनिक अर्थ में तो बाह्य स्वतंत्रता को सच्ची स्वतंत्रता कहना भी असंगत है, क्योंकि शरीर आदि प्राकृतिक अवयवों से संयुक्त होने के कारण मनुष्य प्रकृति से बंधा होता है । किन्तु व्यावहारिक रूप में स्वाधीनता अथवा बाह्य स्वतंत्रता अर्थपूर्ण है और इसका अर्थ सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रताहै । बालगंगाधर

तिलक ने स्वराज शब्द को और अधिक विकसित किया और इसे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की स्वतंत्रता के लिये प्रयोग किया । उन्होंने कहा है कि "जो लोग सांसारिक जीवन में स्वराज का उपभोग नहीं कर पाते उन्हें पारलौकिक जीवन में भी यह उपलब्ध नहीं होता ।"[43] तिलक का स्वराज सम्बन्धी विचार श्री अरविन्द एवं प्रो० भट्टाचार्य के विचारों की अपेक्षा अधिक यथार्थपरक है ।

श्री अरविन्द यद्यपि आन्तरिक और बाह्य स्वतंत्रता को अलग मानते हैं और बाह्य स्वतंत्रता की अपेक्षा आन्तरिक स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं, फिर भी उनके विचारों में स्वतंत्रता के इन दोनों प्रकारों का समन्वय मिलता है । बाह्य स्वतंत्रता को वे व्यावहारिक महत्व देते हैं । इससे इतना तो निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि श्री अरविन्द मानव-स्वतंत्रता के पक्षधर थे और इसे समाज -व्यवस्था का आधार मानते थे ।

श्री अरविन्द ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को समाज के विकास की आधार-शिला माना है । उनके अनुसार" स्वतंत्र व्यक्ति ही समाज का विकास कर सकता है ।"[44] वर्तमान काल में व्यक्तिवाद से उतना खतरा नहीं है, जितना खतरा जनसमूह के अन्धाधुन्ध विकास से है। जन-समूह के विकास को सही दिशा देने के लिए स्वतंत्र व्यक्ति की आवश्यकता है । व्यक्ति की स्वतंत्रता उसकी न केवल सामाजिक एवं राजनैतिक माँग है, बल्कि वह उसकी आध्यात्मिक

आवश्यकता है । इसकेअभाव में वह सच्चे अर्थों में मानव नहीं हो पता । सच्चा मानव वही है जो मानवता के आदर्श को प्राप्त करता है और मानवता का सच्चा आदर्श " मोक्ष" है । मोक्ष समस्त बन्धनों से छुटकारा पाना है, इसलिए यहअनिवार्यतः स्वतंन्त्रता की अपेक्षा करता है । श्री अरविन्द के इस व्यक्तिवाद को आध्यात्मिक-व्यक्तिवाद की संज्ञा दी जाती है । इसका अर्थ यह है कि व्यक्तिवाद की आधार शिला आध्यात्मिक है । व्यक्ति की स्वतंत्रता उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता है । वह किसी समुदाय अथवा उसके नियम से बँध नहीं सकता । नियम मनुष्य के लिये होता है, मनुष्य को नियम का साधन बनाना अनुचित है ।

अपने इन विचारों में श्री अरविन्द व्यक्तिवाद के पोषक और समाजवाद के विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु यह प्रतीति सत्य नहीं है । व्यक्ति की स्वतंत्रता को उन्होंने आध्यात्मिक आधारों पर स्थापित किया है, लेकिन इसके साथ ही व्यावहारिक जगत् में समाजवाद सम्मत समता के वे प्रशंसक हैं । वास्तविकता यह है कि उनके सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों का आधार आध्यात्मिक चिन्तन है और इसी कारण कहीं-कहीं उनके विचार अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं । फिर भी इनमें चिरन्तन भारतीय वेदान्त -परम्परा कापोषण हुआ है, यही उनका मूल्य है ।

1- उपनिषद, गीता एवं तंत्र के प्रभाव में श्री अरविन्द ने जिस वेदान्त की रचना की, वह जगत् और ब्रह्म दोनों को सत् मानता है । अद्वैत में सब को समाहित करने कारण इनके दर्शन को समग्र अद्वैतवाद कहा जाता है ।

2- द पोलिटिकल फिलासफी आफ श्री अरविन्द डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, 1976, पृष्ठ 162

3- वही पृ० 25

4- वही पृ० 25

5- वही पृ० 25-26

6- वही पृ० 26

7- वही पृ० 27

8- वही पृ० 28

9- वही पृ० 29

10- वही पृ० 29

11- वही पृ० 30

12- वही पृ० 31

13- वही पृ० 31

14- वही पृ० 106-107

15- द्रष्टव्य-श्री अरविन्द , द डाक्ट्रिनआफ पैसिव रेजिस्टेन्स, पृ० 16

16- श्री हरिदास मुकर्जी एवं उमा मुकर्जी, श्रीअरविन्दस पोलिटिकल थाट, फर्मा के यल0 मुखोपाध्याय 6/1-ए बन्छाराम अंकुर लेन, कलकत्ता-12, 1958 पृ0 41

17- डा0 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0252

18- वही पृ0 253

19- द्रष्टव्यः वही पृ0 253

20- वही पृ0 250

21- वही पृ0 251

22- वही पृ0 253

23- श्री अरविन्द, स्पीचेज पृ0 175

24. Mazzini (1805-72) in his Essays on "Faith and the future" quoted in G.Catlin's ; The stody of the political Philosophers (New York), 1947, P.708-
We believe, therefore, in the Holy Alliance of the peoples as being the vastest farmula of association possible in our epoch, in the liberty and equality of the peoples, without which no true association can exist - in nationality which is the conscience of the peoples, and which, by assigning to them their part in the work of association, their function in humanity, constitutess their mission upon earth, that is to say, their individuality without which neither liberty nor equality are possible--in the sacred father land, cradle of nationality, altar and workshop of the individuals of which each people is composed".

25- द्रष्टव्य: श्री अरविन्द , द आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी, पृ0 341-43

26- "The application of the American or the Imperial German pattern of federation to the world organization will not be feasible because of the greater diversity and freedom of national development which this type of world union would hold as one of its cardinal principles. The application of the present Unitarian/parliamentary national type to the world organization is also not possible. Hence he would plead some kind of confederation of the peoples for common human ends, for the removal of all causes of strife and difference, for inter-relation and the regulation of mutual aid and interchange,yet leaving to each unit a full internal freedom and power of self-determination would be the right principle of this unity" Shri Aurobindo, The ideal of human Unity, P.339.

27- द्रष्टव्य: श्री अरविन्द: आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी, अध्याय 31 पृ0 331-40

28- द्रष्टव्य: वही पृ0 341

29- वही पृ0 373

30- वही पृ0 286-87

31- वही पृ0 169

32- मैक्स बेबर: एसेज इन सोशियालाजी, पृ0 49-50

33- श्री अरविन्द: द ह्यूमन साइकिल, पृ0 27।

34- द्रष्टव्य- डा0वी0पी0वर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 338

35- श्री अरविन्द, ह्यूमन साइकिल, पृ0 250

36- डा0 वी0पी0वर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 341

37- श्री अरविन्द, द आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी, पृ0 397

38- वी0पी0वर्मा, पृ0 343 उपरिउद्धृत ग्रन्थ

39- श्री अरविन्द , द लाइफ डिवाइन, खण्ड 2, पृ0 772

40- वी0पी0वर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ ,पृ0 354

41- श्री अरविन्द, ह्यूमन सायकिल, पृ0 319-20

42- डा0वी0पी0वर्मा, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 359

43- बाल गंगाधर तिलक ,स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स,पृ0245-46

44- श्री अरविन्द, द आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी पृ0295

00

स्वामी करपात्री

आधुनिक युग के वेदान्ती सामाजिक विचारकों में स्वामी करपात्री (स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती) का नाम महत्त्वपूर्ण है । करपात्री जी वेदान्तदर्शन को स्वीकार करते थे और उन्होंने इसका प्रयोग सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये भी किया है । वे सनातन हिन्दू धर्म के पोषक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनके दार्शनिक विचारों में वेदान्त का सामाजिक पक्ष भी देखने को मिलता है । समाज और राज्य के विषय में एक आदर्श अवस्था के रूप में " रामराज्य" की स्थापना उन्होंने की । यह राज्य का आदर्श रूप है । समता, बंधुत्व और स्वतंत्रता के आदर्श रामराज्य के प्रत्यय में अन्तर्निहित हैं । रामराज्य के विचार को उन्होंने विकसित किया और अपने ग्रन्थ "मार्क्सवाद और रामराज्य"[1] में मार्क्सवाद के साथ इसकी विस्तृत तुलना प्रस्तुत की है ।

करपात्री जी का रामराज्य का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का विषय बना है । उनके प्रमुख आलोचक राहुल सांकृत्यायन हैं, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है किकरपात्री जी का सिद्धान्त पूँजीवाद का पोषक है और इसीलिए समाजवाद का विरोधी भी है । राहुल जी का कथन है कि रामराज्य का सिद्धान्त तथ्यों से परे एक कल्पना मात्र है और यह अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियों पर आधारित है । राहुल जी ने अपनी पुस्तक

" रामराज्य और मार्क्सवाद"[2] करपात्री जी की पूर्वोक्त पुस्तक की समीक्षा के रूप में लिखी है । इस समीक्षा में उन्होंने करपात्री जी की पुस्तक का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत किया है । करपात्री जी की ओर से इस समीक्षा और उसमें निहित खण्डनों का उत्तर " राहुल की भ्रान्ति" [3] नामक पुस्तक में दिया गया है और यह दर्शाया गया है कि राहुल द्वारा किया गया खण्डन भ्रान्तिपूर्ण है ।

रामराज्य के साथ मार्क्सवाद की तुलना करते हुए करपात्री जी ने यह दिखाया है कि मार्क्स के द्वारा दी गई समाज-व्यवस्था वैज्ञानिक कही जाती है क्योंकि वह वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है, और व्यवहारतः सत्य घटित होती है । उसमें सामाजिक समता की स्थापना तथ्य के रूप में क्रियान्वित होती है । किन्तु समकालीन चिन्तन में मार्क्सवाद पर जो अध्ययन हो रहे हैं, वे उसे निराभौतिकवादी दर्शन न कहकर एक नैतिक-व्यवस्था मानते हैं । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के "गीता का समाजवाद" नामक अध्याय में इस संदर्भ में डा०एच०एस०सिन्हा के विचार उद्धृत हैं । पुनश्च मार्क्सोत्तर युग में विज्ञान के संप्रत्यय में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है । मार्क्स के समय तक विज्ञान जड़वादी था, अथवा कम से कम मार्क्स ने तो उसे इसी रूप में स्वीकार किया था । किन्तु आज विज्ञान जड़द्रव्य के अस्तित्व को मानने के लिए तैयार नहीं है । जड़द्रव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार बदल गयी है कि आज उसे गणितीय समीकरणों को संतुष्ट करने वाली शर्त के

रूप में माना जाता है । आइन्स्टाइन के सापेक्षता-सिद्धान्त की स्थापना के बाद जड़-द्रव्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो चुका है । मार्क्स का दर्शन जड़द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करके चलता है और भौतिकवाद के आधार पर समस्त चेतन जगत् की क्रियाओं की व्याख्या करने का प्रयास करता है । आज जब जड़द्रव्य की सत्ता स्वयं संदेहास्पद है, तब उसे आधार मान कर की गयी चेतन जगत् की व्याख्या कदापि संगत नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में मार्क्स कालीन विज्ञान और उस पर आधारित समस्त सिद्धान्त अलंगत हो जाते हैं । मार्क्सवादियों का आदर्शों की ओर झुकाव तथा नियतिवाद के मार्ग से विचलन भी इसी ओर संकेत करता है कि जड़-जगत् का नियंत्रण का सिद्धान्त परम सत्य नहीं हो सकता ।

इस आलोक में मार्क्स द्वारा की गयी भविष्यवाणियों की निश्चितता भी घट जाती है । प्रमुख रूप से वर्ग-संघर्ष और इसके माध्यम से होने वाले सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी आधुनिक परिपेक्ष्य में अवैज्ञानिक लगती है । सामाजिक समानताके लिए वर्गसंघर्ष के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की आवश्यकता आज के युग में महसूस की जा रही है, वह साधन भारतीय ऋषियों द्वारा सुझाया गया यज्ञ, दान, तप और अपरिग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता । राष्ट्रीयकरण और कराधान के माध्यम से संवैधानिक समाजवाद का प्रयास भी दोषयुक्त विधि है । समता का सच्चा स्वरूप इस विधिवाद से नहीं प्राप्त हो सकता ।

करपात्री जी ने प्राचीन ऋषि परम्परा के आदेश के पालन में समता का अद्भुत दृश्य प्रदर्शित करते हुए भागवत् पुराण से उद्धृत किया है --

> स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
> ध्यायन्तु भूतानि शिवंमिथोधिया ।
> मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे,
> आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ।। [4]

यहाँ विश्व के कल्याण की, निर्धन और पतित लोगों के उन्नति की तथा समस्त प्राणियों की मुक्ति की कामना की गयी है । सच्ची सामाजिक समता इन कामनाओं और विचारों से ही आ सकती है, किसी भौतिकवादी, जड़वादी सिद्धान्त से नहीं ।

मार्क्स का समाजवादी-सिद्धान्त समस्त सामाजिक विषमताओं का कारण व्यक्तिगत- सम्पत्ति को मानता है । उसके अतिरिक्त अन्य समाजवादी भी इसे किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं । मार्क्स ने व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का नारा बुलन्द किया । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने वर्ग-संघर्ष तक को उचित माना है । हिंसा के मार्ग से भी यदि समानता की प्राप्ति संभव हो, तो हिंसा उचित मानी गयी है । व्यक्तिगत-सम्पत्ति जिन शाश्वत नियमों पर आधारित है, वे धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अनेक रूपों में प्राप्त होते हैं । इन समस्त नियमों का खण्डन करने के निमित्त मार्क्स ने समाज

की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या की । इस व्याख्या के अनुसार समाज का विकास भौतिक् -नियमों के आधार पर द्वन्द्वात्मक -विधि से हुआ है । सामाजिक प्रगति की व्याख्या अन्य किसी भी प्रकार से करना अवैज्ञानिक है । मार्क्स के इस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को वैज्ञानिक माना गया है, इसीलिए ऐंजिल्स उसके समाजवादी सिद्धान्त को भी वैज्ञानिक -समाजवाद कहता है ।

करपात्री जी ने व्यक्तिगत-सम्पत्ति को भारतीय धार्मिक तथा राजनीतिक शास्त्रों की मान्यता के आधार पर वैध माना है । मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि सात प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार होता है -

सप्तवित्तागमा धर्म्या दायोलाभः क्रयोजयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ।। ‖ मनु0 10-115‖

ये सात प्रकार है- दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग, सत्प्रतिग्रह । इन सात प्रकारों से प्राप्त धन पर व्यक्ति का वैधानिक और धार्मिक अधिकार होता है । उन्होंने कहा है कि इनप्रकारों से प्राप्त धन पर हाथ उठाना अनुचित है । मार्क्स के सिद्धान्त में जिस अतिरिक्त-मूल्य की आलोचना हुई है और जिसको वह सम्पूर्ण सामाजिक अन्याय का मूल स्रोत मानता है, वह भी प्रयोग के माध्यम से करपात्री जी की व्यवस्था में वैध सम्पत्ति स्वीकृत है । भारतीय परम्परा में धन का प्रयोग त्यागपूर्वक

ही उचित माना गया है । व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का केवल पाँचवां हिस्सा अपने लिये प्रयोग में लाना उचित है । ऐसी त्यागपूर्ण-व्यवस्था में अतिरिक्त -मूल्य भी दोष रहित हो जाता है ।

मार्क्स के सिद्धान्त में सामाजिक समानता को प्राप्त करने के लिए वर्ग-संघर्ष एवं रक्तक्रांति जैसे घृणित एवं भयंकर कृत्य भी उचित स्वीकार किए गये हैं । करपात्री जी ने यह माना है कि सामाजिक समानता अन्य नियमों से भी स्थापित हो सकती है । उन्होंने यज्ञ के द्वारा आर्थिक -संतुलन की बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है । यज्ञों का उद्देश्य सम्पत्ति का समाज में वितरण करना था । इस रूप में यज्ञ धार्मिक कृत्य के साथ-साथ प्रमुख रूप से सामाजिक कृत्य थे । वास्तव में प्राचीन भारतीय व्यवस्था में समाज जैसी कोई संस्था नहीं दिखाई पड़ती, सब कुछ धर्म के अन्तर्गत ही था । यही कारण है कि धर्म के नाम पर किये गये कार्य सामाजिक हित के कार्य भी थे । यज्ञों को स्वामी जी ने इसी रूप में देखा है ।

शोषण के प्रश्न पर विचार करते हुए मार्क्स ने सम्पूर्ण समाज को दो वर्गों में बाँट दिया है । एक वर्ग शोषक है, जो सम्पूर्ण सम्पत्ति को हस्तगत करके सारी सुविधाओं का उपभोग करता है । दूसरा वर्ग शोषित है जो समस्त साधनों से हीन है । इन दो वर्गों के बीच संघर्ष को मार्क्स अनिवार्य मानता है । करपात्री जी का कथन है कि शोषक और शोषित

सापेक्ष पद हैं । उन्होंने कहा है कि " कोटिपति की अपेक्षा अर्बुद पति अधिक प्रबल है, तब अर्बुद पति को शोषक और कोटि पति को शोषित कहना पड़ेगा । इसी प्रकार कोटिपति को शोषक और लक्षपति को शोषित कहना पड़ेगा । लक्षपति की अपेक्षा सहस्रपति, उसकी अपेक्षा शतपति आदि को शोषित कहा जायेगा । फिर तो रूप्यक पति और वराटिका ‡कौड़ी‡ पति में भी शोषक-शोषित की कल्पना करनी पड़ेगी ।"[5] यहाँ पर एक बात स्पष्ट है कि शोषक और शोषित को सापेक्ष-पद मानकर भी करपात्री जी ने मार्क्स के द्वारा अभिमत तत्व को छोड़ दिया है । मार्क्स शोषक उसे कहता है, जो अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादक सम्पत्ति रखता हो और शोषित वह है जो अपनी जीविका के लिये आर्थिक उत्पादन करके भी अपने श्रम का कम मूल्य पाताहै । स्वामी जी के उपर्युक्त उद्धरण में यद्यपि शोषक, शोषित से बड़ा दिखाई पड़ताहै, किन्तु शोषित शोषक के लिए अधिक श्रम करके कम मूल्य प्राप्त करताहुआ नहीं दिखाई पड़ता । अतः इस उद्धरण को सटीक नहीं माना जा सकता । शोषण की समस्या का समाधान अन्यत्र खोजना पड़ेगा ।

वर्ग-संघर्ष की आलोचना करते हुए करपात्री जी ने इसे ईर्ष्या पर आधारित बताया है । ईर्ष्या दुर्गुण है । उन्होंने कहा है " अपने से प्रबल धनवान, बुद्धिमान को देखकर ईर्ष्या ,उसे मिटा देने की इच्छा, यह पाशविक स्वाभाविक भावना है ।"[6] उनका अभिप्राय है कि समाज के एक

वर्ग को समाप्त करके दूसरे वर्ग का हित सोचना ईर्ष्या से उत्पन्न है। वास्तविक समानता तभी होती है, जब समाज के सभी वर्ग संतुष्ट हों। जब प्रबल और निर्बल, सम्पन्न और गरीब तथा शोषक और शोषित एक दूसरे के सहयोगी बन जाते हैं, तभी आदर्श समाज की रचना होती है। ऐसे आदर्श समाज के रूप में उन्होंने "रामराज्य" का उल्लेख किया है। रामराज्य में सहज विरोध को भी भुलाकर सहयोग और परस्पर प्रीति की चर्चा स्वामी जी ने अनेक बार की है। यह निर्विवाद है कि ऐसा समाज एक आदर्श की कल्पना मात्र है, किन्तु यह भी सत्य है, कि यह आदर्श एक दीप-स्तम्भ की भाँति मानव-समाज का मार्ग-दर्शन अवश्य करता है।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का करपात्री जी ने विरोध किया है। उनकी मान्यता में व्यक्तिगत- सम्पत्ति का होना राज्य के अनुशासन के लिये परम आवश्यक है। रामराज्य में व्यक्तिगत- सम्पत्ति के अपहरण को उचित नहीं माना जाता। अपने मत को पुष्ट करने के लिए उन्होंने कहा है " जैसे एक-एक वृक्षों के कट जाने पर वन कट जाता है, एक-एक सैनिकों के नष्ट हो जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तियों के परतंत्र, अशिक्षित, निर्धन, निर्बल हो जाने पर राष्ट्र एवं विश्व भी वैसा ही हो जाता है। एक-एक व्यक्तियों के हृष्ट-पुष्ट, बलवानतथा बुद्धिमान होने से राष्ट्र बलवान हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की शक्ति नष्ट हो जाने पर शासन निरंकुश हो जाता है, उसे हटा सकने का शक्ति जनता के पास नहीं रहती।"[7] यहाँ पर तार्किक दृष्टि

संहति दोष कहा जाता है । जैसे किसी भारी मशीन के एक-एक पुर्जो के हल्के होने से पूरी मशीन को हल्की नहीं कहा जा सकता , वैसे ही अंग के गुणों के आधार पर अंगी के गुण का निर्धारण नहीं किया जा सकता । किन्तु विश्व की रचना तर्कों के आधार पर नहीं हुई है । तर्क से परे अनेक ऐसे मूल्य हैं जिनसे यह विश्व बना है । स्वामी जी के पक्ष में इस प्रकार से तर्क दिया जा सकता है कि अगर किसी मशीन के एक-एक पुर्जे मंहगे हैं तो निश्चित रूप से पूरी मशीन भी मंहगी होगी । यह तर्क संहति दोष का निवारण करता है । यहाँ अंग के गुणों के आधार पर अंगी के गुणों का निर्धारण वैध तरीके से संभव है । किन्तु अगर तार्किक उत्तर न भी संभव हो, तो भी व्यवहार के आधार पर यह सत्य सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उससे लगाव व्यक्ति में जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है । साम्यवादी देशों की समाज-व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से भी यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत-सम्पत्ति के अभाव में वहाँ लोगों में जीवन के प्रति तथा उत्पादन के कार्यों के प्रति अरूचि दिखाई पड़ती है । वर्तमान रूस और चीन में, जहाँ साम्यवाद कई दशकों तक रह चुका है, इस ओर रूझानदिखाई पड़ रही है । इसके लिये अनेक कार्यक्रम इन राष्ट्रों में संचालित हो रहे हैं । रूसी नेता गोर्बाच्योव के पेरेस्ट्रोइका और ग्लैसनोस्ट के आदर्श इस बात को प्रमाणित करते हैं ।

इस दिशा में वर्तमान युग में साम्यवादी राज्यों में परिवर्तन भी इस बात को प्रमाणित करताहै । आज साम्यवादी राज्यों में न्यूनतम व्यक्तिगत-सम्पत्ति की ओर लोगों का झुकाव दिखाई पड़ता है । व्यक्तिगत- अधिकारों की बात भी एक सीमा तक दिखाई और सुनाई पड़ने लगी है । व्यक्ति को समाप्त करके समाज की सेवा वदतोव्याघात है । व्यक्ति का हित समाज के हित से वैसे ही अभिन्न है, जैसे हाथ अथवा पैर का हित सम्पूर्ण शरीर के हित से । हाथ अथवा पैर को काट कर शरीर को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता । वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि दोनों के हितों में समायोजन किया जाय ।

आर्थिक असन्तुलन को दूर करने और समाज को सुखी एवं व्यवस्थित करने का मार्ग करपात्री जी ने सुझाया है । इस दिशा में वर्ग -संघर्ष सहायक नहीं हो सकता । इसके लिये रामराज्य की विधि यज्ञ एवं दान की है । अनेक ऐसे यज्ञों का उल्लेख आता है, जिनमें सर्वस्व दान करके यजमान राजा तक मिट्टी के वर्तनों के साथ निर्वाह किए हैं । ये दान की गई वस्तुएं और सम्पत्ति समाज के सभी वर्गों में वितरित होती थीं । सेवा के प्रतिदान के रूप में सेवकों को, वस्तु -विनियम के रूप में व्यापारियों को, रक्षा कार्य के लिए क्षत्रियों को और यज्ञ में सहयोग के लिये ब्राह्मणों को दिया गया यह धन सम्पूर्ण समाज में वितरित हो जाता था ।

इस संदर्भ में दान का महत्व उल्लेख्य है । धनी होकर दान न देने वालों को तथा गरीब होकर तपस्या न करने वालों को पत्थर बाँधकर जल में डुबा देने का आदेश शास्त्र देते हैं -

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ।। [8]

किन्तु ऐसी व्यवस्था वहीं संभव है, जहाँ राज्य और नियम धर्म के नियंत्रण में हों । शास्त्र के इस आदेश का पालन करते हुए बनायी गयी समाज-व्यवस्था धनी और निर्धन वर्ग के बीच के भेद को मिटाने में सर्वोत्तम सहायक हो सकती है । दान के द्वारा दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों का लाभ होता है । दान देने वाले को प्रकट रूप से यश, कीर्ति, सम्मान और संतुष्टि प्राप्त होती है । अप्रकट रूप से तो उसे अन्य अनेक उपलब्धियाँ होती हैं । यदि इन अप्रकट उपलब्धियों को अस्वीकार भी कर दिया जाय तो भी प्रकट उपलब्धियों के साथ-साथ समाज के आर्थिक संतुलन की उपलब्धि तो निर्विवाद ही है । दान लेने वाले को धन की आवश्यता होती है, क्योंकि वह निर्धन होता है । किन्तु उसके पास तपस्या का धन शास्त्रों के आदेश के पालन के फलस्वरूप पहले से ही रहता है । स्थिति यह बनती है कि समाज के एक वर्ग के पास धन अर्थात् भौतिक सम्पत्ति होती है और दूसरे वर्ग के पास तप अर्थात् आध्यात्मिक सम्पत्ति होती है । दोनों वर्ग परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक दूसरे का कल्याण

करें, यही सच्चे रामराज्य का उद्देश्य है । आर्थिक-असंतुलन को दूर करने का इससे अच्छा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

करपात्री जी की मान्यता है कि आर्थिक-असंतुलन को मिटाने के लिये वर्ग-विद्वेष अथवा वर्ग-संघर्ष का मार्ग अत्यन्त अमानवीय है । उनके अनुसार " संघर्ष और विघटन का कारण प्रमाद, विलासिता और स्वार्थ - परायणता है ।"[9] धनी अथवा निर्धन होने से इस पर कोई असर नहीं पड़ता । द्वेष की भावना मानव मन की दुर्बलता से उत्पन्न होती है । यह सहयोग की भावना के विरुद्ध है । सहयोग के बिना समाजिक-शान्ति असंभव है, इसलिए वर्ग-द्वेष को आधार बनाकर सुख, शान्ति की आशा करना तथा समाज को स्थायित्व प्रदान करना संभव नहीं है । इसके द्वारा प्राप्त सामाजिक ढांचा अत्यन्त अस्थिर और परिवर्तनशील होता है । इस बात की पुष्टि उन समाजों के अवलोकन से भी होती है, जहाँ वर्ग-संघर्ष के माध्यम से तथाकथित समानता की स्थापना का दावा किया जाता है । साम्यवाद के नाम पर कठोर अधिनायकतंत्र की स्थापना से आज भी वहाँ का जन-सामान्यदबा है । यद्यपि यह अधिनायकतंत्र व्यक्ति के रूप में नहीं है, फिर भी इसका विरोध उन समाजों में है ।

इस प्रसंग में करपात्री जी ने राम चरित मानस का एक दोहा-

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहिसन करहिं विरोध ।।

उद्धृत करते हुए स्थापना की है कि " यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय है, इसलिए किसी का किसी से विरोध होना अज्ञानजनित है । " [10] उनकी मान्यता है कि भौतिकता के क्षेत्र में सच्ची स्वतंत्रता, समता और बंधुता संभव ही नहीं है । इन आदर्शों को अगर प्राप्त करना है, तो अभौतिक-क्षेत्र में ही प्रवेश करना पड़ेगा । अभौतिक क्षेत्र में सामाजिक-समानता, स्वतंत्रता व भ्रातृता के आदर्श से उत्कृष्ट आदर्श दिखाई पड़ते हैं, जिनमें न केवल सम्पूर्ण मानव की एकता की बात कही गयी है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि की एकता, जिसमें मानवेतर प्राणी, जीव, अजीव सभी एक सूत्र में बंधे दिखाई पड़ते हैं । एक ही शक्ति जड़, चेतन सब में व्याप्त है और वही सबको धारण करती हैं । यह संभवतः समानता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है ।

यह प्रश्न अवश्य अवशिष्ट रह जाता है कि इस अभौतिक एकता का समाजिक उपयोग क्या है? क्या यह आदर्श मानव समाज में लागू हो सकता है? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर यही है कि इस एकता के आदर्श का मानव समाज के लिये वही उपयोग है, जो किसी भी आदर्श का होता है । जहाँ तक आदर्शों के क्रियान्वयन का प्रश्न है, प्रायः सभी आदर्शों के विषय में यह सत्य है कि उन्हें क्रियान्वित नहीं किया जा सकता । अब तक मानव इतिहास में जितने भी आदर्श बने हैं, उनमें से कोई भी पूरा-पूरा तथ्य रूप में परिणत नहीं हुआ है । ऐसा शायद इसलिए है कि आदर्श तभी तक आदर्श होते हैं जब तक वे तथ्य के रूप में बदल नहीं जाते । आदर्श, सर्व-

कालिक होते हैं इसलिए वे तथ्य के रूप में कभी नहीं बदले जा सकते । आदर्शों को तथ्य अथवा व्यवहारके स्तर तक उतारना पतन कहा जायेगा । विकास की बात तो यह है कि तथ्यों को आदर्श के स्तरतक ऊँचा उठाया जाय और इसी उद्देश्य से आदर्शों का निर्माण कियाजाता है ।

आदर्श राज्य-व्यवस्था की कल्पना विभिन्न देशों और कालों में की गयी । इनमें से कुछ तो केवल आदर्श मात्र बनकर रह गई और कुछ कल्पनाएं साकार रूप भी ले सकीं । इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन सब में एक सामान्य तत्व विद्यमान रहा है । वह सामान्य तत्व है, इनका मानव-कल्याणोन्मुख होना । राज्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल उद्देश्य भी यही था । यूटोपियन समाजवादी काल्पनिक विचार, वैज्ञानिक समाजवाद के व्यावहारिक विचार, प्राचीनराजतंत्र , गणतंत्र, जनतंत्र, और रामराज्य का आदर्श सब में मानव-कल्याण की भावना एक सामान्य तत्व के रूप में दिखाई पड़ती है । यहाँ हमारा उद्देश्य केवल इतना परखना है कि इन व्यवस्थाओं में से कौन सी व्यवस्था अपने इस मूल उद्देश्य को सही रूपों में पूरा करती है । आधुनिक युग में समाजवाद । वैज्ञानिक। को सर्वथा न्याय-संगत एवं पूर्ण राज्य-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा रहा है । इस व्यवस्था के अन्दर झाँकने का जिन्होंने प्रयास किया है, उनको यही दिखाई पड़ा कि यह मानव-मात्र के कल्याणार्थ और सामाजिक -समता की स्थापना का सिद्धान्त है । सामान्य दृष्टि से यह व्यवस्था मनुष्य की भौतिक

आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति एवं उत्पादक-सम्पत्ति के व्यक्तिगत-स्वामित्व के खण्डन के पक्ष में है । अन्य सिद्धान्तों की मूल मान्यताएं अति प्रचलित होने के कारण उल्लेख्य नहीं है । यहाँ रामराज्य के आदर्श के साथ वैज्ञानिक -समाजवाद की तुलना अपेक्षित है, क्योंकि एक वेदान्त के मूल्यों पर आधारित समाज-व्यवस्था है और दूसरी आधुनिक युग को चकाचौंध कर देने वाली पूर्णत: भौतिकवादी व्यवस्था है ।

वैज्ञानिक-समाजवाद के समक्ष कुछ प्रश्न रखकर विचार को आगे बढ़ाया जा सकता है । प्रथम प्रश्न यह है कि क्या आधुनिक युग के वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित राज्यों को वे समस्त उपलब्धियाँ हुईं, जिनके लिए इनकी स्थापना हुई थी? द्वितीय प्रश्न क्या इन राज्यों में पूर्ण समता प्राप्त हो सकी? और तृतीय प्रश्न है कि क्या वे राज्य समस्त नागरिकों को स्वतंत्रता, जो कि मानवता का प्राण है, दिला सके ? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर स्पष्टत: नकारात्मक होगा । इस उत्तर के नकारात्मक होने का कारण भी स्पष्ट है । ये उपलब्धियाँ इस लिए नहीं हो पायीं, क्योंकि वैज्ञानिक समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतर पक्ष को अस्वीकार करके चलता है । रोटी, कपड़ा और आवास की समानता को उद्देश्य बनाकर व्यक्तित्व के अन्य पक्षों को नगण्य मान लिया गया है, जबकि उन्हीं पक्षों में भारी विषमता निवास करती है । साम्यवाद के अन्तर्गत भी विज्ञान, कला और साहित्य की उन्नति अवश्य हुई है,

किन्तु इनका उद्देश्य भी भौतिकता की पूर्ति ही है । विज्ञानका प्रयोग मानव-जीवन के भौतिक और सांसारिक मूल्यों तक ही सीमित रखा गया है । यही इसका क्षेत्र ही है । कला और साहित्य का विकास भी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप ही हो रहा है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होने के कारण यह भौतिकता के स्तर से उठ नहीं सका है । जीवन का सुख आध्यात्मिक आनन्द नहीं हो सकता। सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है और साम्यवादी विज्ञान, कलाऔर साहित्य इन्हीं सुखों का साधन मात्र है । यह आत्मिक-आनन्द की सृष्टि में अक्षम है, अतएव इन्हें एकांगी माना गया है । वर्गभेद का अन्त करने के प्रयास में उन्होंने नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है जीवन-स्तर की समानता का प्रयास करते हुए भी उन्होंने उस अन्तर को कायम रखा है, जो पूर्ववर्ती समाज में था । व्यक्ति बदल गये, व्यवस्था बदल गयी, लेकिन व्यवस्था का मूलतत्व अपरिवर्तित ही रहा । आज भी उन राज्यों में शासक और शासित वर्ग का स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ताहै । शासितों पर राज्य के प्रति दायित्व का जो भार लादा गया है, उसे वे बाध्य होकर ढो रहे हैं, स्वेच्छा पूर्वक नहीं ।

इस बाध्यता का एक मात्र कारण मानव-स्वतंत्रता की समाप्ति है । मनुष्य को यांत्रिक नियमों से नियंत्रित नहीं किया जा सकता । वैज्ञानिक-समाजवाद मनुष्य को भी विज्ञान का विषय-यंत्र मानकर समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है । यही कारण है कि उसे पूर्ण सफलता

नहीं मिल सकी । साम्यवादी राष्ट्र चीन एवं रूस में कुछ वर्षों से जो परिवर्तन हो रहे हैं, वह मानव-स्वातंत्र्य की दिशा में उठाये गये कदम हैं । स्वतंत्रता की भावना यांत्रिकता के अर्थ में परिभाषित विज्ञान के नियमों का पालन नहीं कर सकती । आज विज्ञान का अर्थ भी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है । उन्नीसवीं शती के विज्ञान से, जिस पर मार्क्स का दर्शन आधारित था, आगे बढ़कर आज विज्ञान यांत्रिकता से स्वातंत्र्य की ओर बढ़ रहा है । ऐसी स्थिति में मार्क्स के विचारों को तत्वतः वैज्ञानिक- समाजवाद कहना भी अनुचित होगा । केवल आलोचनात्मक विधि के कारण यह वैज्ञानिक समाजवाद कहा जा सकता है ।

सामाजिक एकता की प्राप्ति के लिये कोई ऐसा सिद्धान्त खोजना आवश्यक हो गया है, जिसमें मानव-स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा जा सके । इस दृष्टि से रामराज्य की कल्पना आदर्श प्रस्तुत करती है । रामराज्य की कल्पना का एक चित्र करपात्री जी ने प्रस्तुत किया है । दूसरा चित्र संत तुलसीदास के रामचरित मानस में भी मिलता है । प्रथम चित्र बहुत कुछ द्वितीय चित्र पर ही आधारित कहा जा सकता है । किन्तु करपात्री जी ने "मानस" के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों का भी आश्रय लिया है । अखिल भारतीय रामराज्य परिषद् के चुनाव घोषणापत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद महात्मा गाँधी ने रामराज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था । उस स्वप्न को साकार करने का अवसर

उनको न मिल सका । स्वामी करपात्री ने उसे साकार करने के उद्येश्य से इस राजनीतिक दल की स्थापना की । रामराज्य परिषद को करपात्री जी ने राजनैतिक दल का रूप दिया । इसकी स्थापना जिन उद्देश्यों से की गई, वे निम्नलिखित हैं :-

1- सभी प्राणी परमपिता परमात्मा की सन्तान होने से भोजन, आच्छादन, चिकित्सा, आवास, शिक्षा, न्याय-प्राप्ति में समान अधिकार रखते हैं, तथा भ्रातृभाव रखना इन सबकाप्रमुख कर्तव्य है । रामराज्य की सफलता में यह मौलिक अधिकार प्रमुखतम रूप से सर्वमान्य होगा ।[11] इस घोषणा में वे समस्त क्षेत्र समान अधिकारों के लिए खुले हैं जिनकी आवश्यकता मानव जीवन के संचालन के लिये होती है ।

2- इसके अन्तर्गत राष्ट्र के सभी नागरिकों को अपने धर्म, शास्त्र, परम्परा और मान्यता के अनुसार अपने-अपने धर्म के पालन की पूर्ण स्वतंत्रता और सुविधा होगी । किसी को दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप का अधिकार न होगा ।[12] धर्म-निरपेक्षता समाजवाद का प्रमुख गुण है । स्वामी जी ने उक्त घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य को धर्म से कोई सरोकार नहीं है । उसे सभी धर्मों से निरपेक्ष होना चाहिए । धर्म व्यक्ति के लिए है और इसमें उसे पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त गोरक्षा, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना, न्याय प्राप्ति में विलम्ब और उत्कोच काउन्मूलन, निर्यातनीति में सुधार आदि

की चर्चा इसके उद्देश्य में की गयी है । यह सभी विचार भारत के राष्ट्रीय-चरित्र के निर्माण में सहायक और आवश्यक है । इनके अतिरिक्त उन्होंने घोषणा की है -

3- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशों से ऐसे समझौते कभी न किए जायेंगे, जिनसे भारतीय अर्थ, राष्ट्रीय स्वाभिमान अथवा हित तथा स्वत्व की क्षति हो । शिमला समझौता, बंगलादेश की स्वतंत्रता में अपार जनधन की क्षति के अनन्तर भी भारत का शिर:शूल निरन्तर अबाधगति से चालू है । उत्तरवर्ती सीमा पर चीन के सम्मुख प्राय: हम असहाय से प्रतीत हो रहें हैं और काश्मीर भी चिन्ता का विषय बन रहा है । इसलिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का सिंहावलोकन तथा संशोधन अनिवार्य है । [13]

इन विचारों में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी है । समाजवादी विचार सैद्धान्तिक रूप में तो अन्तर्राष्ट्रीय रहे, और राष्ट्र की सीमाओं में उन्हें नहीं बांधा गया , किन्तु व्यवहार में हम इसका उल्टा ही पाते हैं । पाश्चात्य समाजवाद के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि विश्वयुद्धों के समय समाजवाद का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप बिखर गया और राष्ट्र की सीमाओं में बंधकर समाजवादियों ने परस्पर युद्ध भी किया । बाद के इतिहास से भी यही स्पष्ट होता है कि राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय परम्पराओं का बन्धन समाजवाद का एक आवश्यक गुण बन गया है । स्वामी करपात्री जी के इन राष्ट्रवादी विचारों से उनके समाजवादी विचारों को बल मिलता है ।

रामराज्य परिषद अन्य समस्त भारतीय राजनैतिक दलों से अलग, भारतीय परम्परा पर आधारित दल है । समस्त आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक कष्टों की एकमात्र महोषधि रामराज्य है । अन्य राजनैतिक दलों से मौलिक भेद के ही कारण इस दल का चुनावी समझौता किसी अन्य राजनीतिक दल से न हो सका । वेदान्त -दर्शन के मूल्यों को समाज और उसकी समस्याओं के निदान के ढाँचे में ढालने का जो प्रयास करपात्री जी ने किया वह उन पूर्ववर्ती वेदान्तियों में नहीं दिखाई पड़ता । स्वामी विवेकानन्द और स्वामीरामतीर्थ ने समाज के लिए जो भी विचार दिये वे उपदेशात्मक अधिक रहे । उनके पीछे कोई राष्ट्रीय कार्यक्रम स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता । करपात्री जी ने जो कार्यक्रम दिया वह समाज की मुख्य धारा से जुड़ा है । आधुनिक-युग राजनीति से अलग नहीं हो सकता । इस बात को ध्यान में रखकर स्वामी करपात्री जी ने राजनैतिक ढाँचे में वेदान्त को ढाला ।

स्वामी जी के राजनीतिक विचार राष्ट्रवादी हैं, किन्तु अन्य राष्ट्रवादी संगठनों से उनके विचार अलग हैं । स्व0 गोलवरकर जी की पुस्तक" विचार नवनीत" में प्रकाशित अनेक विचारों की उन्होंने कटु शब्दों में आलोचना की है । गोलवरकर जी भी राष्ट्रवादी थे, किन्तु उन्होंने उक्त पुस्तक में ऐसा लिखा है, कि हमारी ।भारतीयों की। सांस्कृतिक-परम्परा की एक विशिष्टता यह भी है कि हमने किसी भी ग्रन्थ को धर्म अथवा संस्कृति के क्षेत्र में सर्वोच्च नहीं माना । इस बात की स्वामी जी

ने भर्त्सना की है । उन्होंने कहा " जैसे इस्लाम का कोई भक्त कुरान न मानता हो, ईसाइयत के आदर्श की बातें करने वाला बाइबिल न मानता हो, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, वैसे ही जो हिन्दू -संस्कृति के आदर्शों की रक्षा की बातें करता है, वह किसी हिन्दू वेदादि ग्रन्थों को न मानता हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं । " [14]यहाँ करपात्री जी की राष्ट्रीयता सच्चे अर्थों में उभरकर प्रस्तुत होती है । पुनश्च उन्होंने कहा है कि " अनादि-प्रपंच का शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है । अनादि शिष्ट ।शासित। जीव एवं जगत् पर शासन करने वाले अनादि शासक परमेश्वर का शासन- संविधान भी अनादि ही होता है । वही शासन संविधान"वेद" है ।" [15] वेद के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी । वेद के वाक्यों को परिवर्तित परिवेश में अक्षरशः सत्य सिद्ध करने का उन्होंने प्रयास किया है । वेद हमारी संस्कृति और राजनीति के मूल हैं । गोलवरकर जी की राष्ट्रीयता को भी करपात्री जी सच्ची राष्ट्रीयता नहीं मानते । केवल भावना पर्याप्त नहीं है । भारत माँ के प्रति हमारी सच्ची भावना तभी बन सकती है, जब इसके पक्ष में प्रमाण उपलब्ध हों । शास्त्रप्रमाण के अभाव में केवल भावना कुछ नहीं कर सकती । उन्होंने यह कहा है कि "प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि ही हो सकते हैं । भक्ति या भावना स्वतंत्र रूप से प्रमाजनक प्रमाण नहीं ।" [16]यह तो केवल शास्त्र सम्मत होने पर ही मूल्यवान होती हैं । अतएव राष्ट्रभक्ति की कोरी भावना शास्त्रहीन होने पर अमान्य और निरर्थक होगी । गोलवरकर जी की राष्ट्रीयतावादी मान्यताएं अशास्त्रीय होने के कारण अमान्य हैं ।

स्वामी करपात्री की इन आलोचनाओं तथा उनके चुनाव घोषणा से यह स्पष्ट है, कि वे धर्म में अत्यन्त कट्टर थे । किन्तु यह कट्टरता परधर्म विरोधी नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का कट्टर अनुयायी होना चाहिए । ऐसा व्यक्ति ही धर्म और समाज को कुछ दे सकता है । किन्तु धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है । यह उसके जीवन का एक पक्ष है, और प्रत्येक पक्ष परस्पर स्वतंत्र है । अतः दूसरे पक्ष इससे प्रभावित और दमित नहीं होने चाहिए । इसलिए धर्म भी व्यक्ति के जीवन के राजनीतिक पक्ष का दमनकारी नहीं होना चाहिए । यह सत्य है कि धर्म की मान्यताओं का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त और राजनैतिक जीवन का इससे प्रभावित होना आवश्यक नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए भी एक राजनीतिक झण्डे के नीचे रहकर एक राज्य का संचालन समान विचारों के साथ सहयोग पूर्वक कर सकता है । यहाँ कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता ।

स्वामी करपात्री जी के पूर्व गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में रामराज्य के आदर्श की चर्चा की है । इसका स्वरूप प्रमुखतः उपदेशात्मक है । तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत रामराज्य के सिद्धान्त के विरुद्ध आधुनिक दृष्टि से कुछ आरोप लगाये जाते हैं । प्रथम यह कि वे राजतंत्र के पक्षधर हैं और राजा तथा प्रजा के भेद को स्वीकार करते हैं । द्वितीय वे सामाजिक-व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करते हैं, जिसमें वर्णगत उच्चता और निम्नता की बात भी सम्मिलित है । यह भेद सामाजिक समता

के मार्ग में बाधक है । तृतीय उन्होंने मनुष्यों में भी पुरुष और स्त्री की योग्यताओं का भेद करके स्त्री को गर्हित एवं निन्दनीय कहा है ।

इन आक्षेपों से तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत समाज-व्यवस्था के वर्तमान युग में औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है, किन्तु इन्हें परीक्षण के बिना स्वीकार करना उतना ही गलत होगा जितना गलत अस्वीकार करना । तार्किक- परीक्षण करने पर निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं ।

तुलसी दास के रामराज्य के आदर्श पर लगाया गया प्रथम आरोप कि वह शासक और शासित के भेद को स्वीकार करते हैं उचित स्पष्टीकरण के बाद समाप्त हो जाता है । रामराज्य में शासक एवं शासित के बीच भेद दिखाई तो पड़ता है, किन्तु न तो शासक शोषक है और न ही शासित शोषित । यहाँ राजा को प्रजा के हित में चिन्तित और प्रयत्नरत चित्रित किया गया है, साथ ही प्रजा भी राजा का हित करनाचाहती है । ऐसे समन्वय की स्थिति में तो भेद भी अभेद में बदल जाता है । राजा भारतीय शास्त्रों में "षष्ठांश भुक्" कहा गया है । वह छठें अंश का । करके रूप में। भोग करने का अधिकारी है । इस प्रकार के प्रयोग इस ओर संकेत करते हैं कि । कर। दाता स्वेच्छया दे रहा है और संग्राहक ।राजा। उसे स्वीकार कर रहा है । इस षष्ठ अंश के बदले कितना दायित्व राजा को सौंपा गया है । वर्गहीन समाजों का अवलोकन करने पर इससे अधिक गहरे भेद दिखाई पड़ेंगे । रामराज्य में शासक सोचता है -

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।। [17]

ऐसे शासक का उसकी प्रजा के साथ भेद या विरोध संभव ही नहीं है । इस व्यवस्था में तो शासक और शासित अन्योन्याश्रित हैं तथा संयुक्त रूप से अन्य उच्चतर साध्यों का साधन बने हैं ।

द्वितीय आरोप इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु सम्यक् विवेचन से यह आरोप भी समाप्त हो जाता है । तुलसीदास और उनका रामराज्य वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित है । मानस में उन्होंने कहा है-

बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग ।। [18]

किन्तु यह वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी भी प्रकार से सामाजिक समता की विरोधी नहीं कही जा सकती । इसी प्रसंग में तुलसीदास ने पुनः कहा है-

सब नर करहिं परस्पर प्रीती ।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीती ।। [19]

जन मानस में परस्पर प्रीति का संचार होने पर ही सामाजिक एकता संभव है । समता को बाहर से नहीं लाया जा सकता । बाहर से लायी गयी

समता स्थायी नहीं होती । स्थायी समता अन्तः स्फूर्ति से ही उत्पन्न होती है । बाह्य समता के अस्थायित्व का प्रमाण आधुनिक युग के साम्यवादी राज्य है, जहाँ समता बलपूर्वक लोगों पर लाद दी गयी है । तुलसीदास स्वधर्म के आचरण पर बल देते हैं । स्वधर्म वर्णाश्रम धर्म के अनरूप ही होता है, किन्तु यह अधिक स्पष्ट कर्तव्यों का संकेत करता है । स्व + धर्म में स्व पर अधिक बल दिया गया है । इससे यह भी झलकता है कि यह व्यक्ति का धर्म था और व्यक्ति के स्वरूप एवं उसकी स्थिति के अनुसार बदल जाता था । व्यक्ति के स्व का निर्धारण उसके गुण एवं योग्यता के अनुसार होता था । गुण और योग्यता में वृद्धि करके समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त करना संभव बताया गया है । " चातुर्वर्ण्यं मायासृष्टं गुण-कर्म विभागशः "[20] के माध्यम से गीता भी यही घोषणा करती है कि वर्ण वास्तव में गुण-कर्म के आधार पर नियत होता है जन्म के आधार पर नहीं । गुण और कर्म से व्यक्तियों के वर्णों में भेद होता है और फिर स्वधर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं । किन्तु यह भेद सामाजिक-समता में बाधक नहीं है । व्यक्ति के वैशिष्ट्य को समाप्त नहीं किया जा सकता । आधुनिक समाजवादी विचारक भी " योग्यता एवं आवश्यकता के अनुरूप" की बात करते हैं । इस कथन में भी व्यक्तिगत भेद के विचार अन्तर्निहित हैं । गुण एवं कर्म के आधार पर यदि समाज में कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से अधिक उपलब्धि प्राप्त करता है, तो इसे प्राकृतिक-भेद कहकर स्वीकार करना ही पड़ेगा । प्रयत्न करके भी इस भेद को नहीं समाप्त किया जा सकता ।

तृतीय आलोचना सामाजिक-समताकी दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत होती है। तुलसीदास ने अनेक प्रसंगों में स्त्रियों की निन्दा की है, कभी-कभी तो वे स्त्रियों की अत्यन्त कठोर निन्दा करते हैं " ढोल गंवार शूद्र पशु नारी" अथवा " अवगुण आठ सदा उर रहहीं" इन जैसे अन्य अनेक प्रसंगों में नारी को निन्दित और हेय समझा गया है । जिसके आधार पर राहुल सांकृत्यायन , भदन्त आनन्द , कौशल्यायन और अम्बेदकर जैसे कुछ आलोचकों ने यह निगमित किया कि तुलसीदास द्वारा कल्पित रामराज्य में नारी को समाज में अत्यन्त निम्न स्थान दिया गया है । किन्तु तुलसीदास और उनके ग्रन्थों विशेषकर "रामचरित मानस" का सम्यक् सांगोपान और अदुराग्रह पूर्ण अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि गोस्वामी जी के नारी संबंधी विचारों की जिन लोगों ने निन्दा की है वे दुराग्रह ग्रस्त से साधारण जीव थे,जो गोस्वामी जी को ठीक से नहीं समझ सके ।"सिया राम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी" में आस्था रखने वाला व्यक्ति, कीट पतंग में भी सिया राम का दर्शन करने वाला व्यक्ति क्या कभी नारी निन्दक हो सकता है? मानस में जहाँ भी नारी निन्दा की गयी है बिल्कुल साधारण और दुष्ट पात्र के द्वारा की गई है ।

रावण और समुद्र जैसे पात्र जो शास्त्र की ही भाषा समझते हैं विनम्रता और अनुशासन की नहीं, उनसे नारी के प्रति क्या इससे अच्छी टिप्पणी की आशा की जा सकती है? नारी को मात्र उपभोग की वस्तु समझने वाले उसके गरिमा मण्डित मानवसद्धर्मिणी के रूप का दर्शन कैसे कर सकते हैं? गोस्वामी जी एक महान सन्त थे । अन्य स्थानों पर भी जहाँ नारियों की निन्दा की गयी है वे स्वैरिणी नारियाँ हैं जो अपने हावभाव और विलास प्रेम से ईश्वर भजन में

लीन भक्तजनों को भक्तिमार्ग से विचलित करती हैं । ऐसी नारियों की प्रत्येक साहित्य और धर्म में निन्दा हुई है । शेक्सपियर के नाटकों में पढ़िये "Frailty thy name is woman". गोस्वामी ने न केवल स्वैरिणी महिलाओं अपितु स्वैरी पुरुषों की भी उतनी ही कटु आलोचना की है और उसे कहीं अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की है । यदि स्वेच्छाचार के कारण शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाते हैं तो रावण और बालि का वध किया जाता है । यदि तुलसीदास जी का सही मूल्यांकन किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि वे नारी जाति के कितने महान् उन्नायक थे और समाज में उन्हें कितना ऊँचा स्थान देना चाहते थे । उनकी लेखनी ने पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया और सीता जैसी देवियों, आर्य-माताओं की बात दूर रही; शबरी, तारा, त्रिजटा और मन्दोदरी जैसी वन्य और राक्षस जातियों से संबंधित नारियों का भी समान आदर के साथ वर्णन किया है । और उन्हें चिरकाल के लिये समान रूप से पूज्य बना दिया है । अतः नारी जाति के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी किन्तु उसके आदर्श माता, आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्री और आदर्श भक्त आदि के रूप में, स्वैरिणी और प्रमदा रूप में नहीं । नारियों के मार्यादा विहीन आचरण के प्रति उनके मन में आक्रोश था और उनकी असहायावस्था के प्रति सहानुभूति । यही कारण है कि जहाँ वे " जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी" का उल्लेख करते हैं वहीं वे "पराधीन सपनेहु सुख नहीं" कहकर नारियों के दारुण दैन्य के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से गोस्वामी तुलसीदास की व्यवस्था में नारी पुरुष के सामाजिक स्तर में भेद की बात करनाव्यर्थ हो जाता है । समाज सदैव अच्छे की प्रशंसा और बुरे की निन्दा करता है । यहाँ पर तुलसीदास का उद्देश्य आदर्श की स्थापना करना था, इसलिए उन्होंने दोषों को उभार कर निकालने का प्रयास किया । गुणों की स्थापना के लिये दोषों को दूर करना ही पड़ेगा । यही तुलसीदास ने किया है ।

रामराज्य, राज्य संबंधी अब तक की गयी कल्पनाओं में सर्वश्रेष्ठ है । पाश्चात्य विचारक एडमर बेबिन्धू ने लिखा है-" इस व्यवस्था में उन्होंने निश्चित रूप से आस्तिक हिन्दू परम्परा का निर्वाह किया है । वेदों और शास्त्रों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है । उन्होंने सामाजिक कर्तव्यों पर बहुत जोर दिया है "।[21] सामाजिक कर्तव्यों का पालन करके ही मानव-जीवन के सुख, शान्ति, लौकिक-विकास और आध्यात्मिक-प्रगति को संभव बनाया जा सकता है । अतः आदर्श की दृष्टि से रामराज्य की कल्पना सर्वोच्च है । तुलसीदास की कल्पना करपात्री जी के विचारों में व्यवहारिक रूप लेती है । उसका मूर्त व्यावहारिक रूप अभी नहीं देखा जा सका है ।

समीक्षा

करपात्री जी के सामाजिक विचारों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि वे समाजवाद के पाश्चात्य स्वरूप को अस्वीकार करते

हैं। विशेषत: मार्क्सवाद के नाम से प्रचलित समाजवादी सिद्धान्त का वे विरोध करते हैं । मार्क्सवाद द्वारा स्वीकृत समस्त विधियों यथा-व्यक्तिगत-सम्पत्ति की समाप्ति एवं वर्ग-संघर्ष आदि का उन्होंने विरोध किया है । इनका कुछ भी सामाजिक महत्व नहीं है । इन विधियों से प्राप्त समानता स्थायी नहीं हो सकती । गांधी जी भी यही कहते थे और स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में सदैव रामराज्य का आदर्श जनता के सामने रखते थे । उनका कथन था कि यदि बुरे रास्तों से स्वतन्त्रता मिल भी गई तो वह स्थाई नहीं होगी । देश एक दिन पराधीन हो जाएगा । इस लिये जनता को संयम और आत्मानुशासन एवं धैर्य के गुण प्राप्त करने चाहिए ।

मार्क्सवाद का विरोधी होने पर भी करपात्री जी सामाजिक समानता के विरोधी नहीं थे । राहुल आदि भारतीय मार्क्सवादियों की यह मान्यता, कि वे पूंजीवाद के समर्थक थे, असंगत है । मार्क्सवाद के विरोध का अर्थ पूंजीवाद नहीं होता । सामाजिक समानता के लिये यज्ञ एवं दान की विधियों को स्वामी जी स्वीकार करते हैं । समता उनके लिये भी अभिप्रेत है, किन्तु उसके लिये वे भिन्न विधि का प्रयोग करते हैं ।

दान, यज्ञ को सामन्तवादी-प्रवृत्ति का परिचायक माना जाता

है । इसके लिये सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है । व्यक्तिगत- सम्पत्ति के बिना दान का कोई अर्थ नहीं होता । अतः स्वामी जी व्यक्तिगत सम्पत्ति के शास्त्र-सम्मत रूप को स्वीकार करते हैं । सम्पत्ति के एक अंश को दान के रूप में प्रयोग करने का शास्त्र -आदेश सामाजिक- समानता की एक विधि है और स्वामी करपात्री जी की मान्यता यह है कि यह विधि भारतीय समाज के लिये अधिक उपर्युक्त है ।

रामराज्य के जिस आदर्श की स्थापना सन्त तुलसीदास ने राम-चरितमानस में की थी, वह आदर्श मात्र था और धर्म-प्रधान तथा उपदेश प्रधान था, किन्तु करपात्री जी ने उसे राजनैतिक दल का रूप देकर उपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट सामाजिक और राजनैतिक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया । व्यावहारिक रूप में उनके विचार कितने सत्य हो पाये, यह भिन्न प्रश्न है । सैद्धान्तिक रूप से उनका आदर्श निश्चय ही सर्वोच्च है, वह सामाजिक -व्यवस्था के रूप में समता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व को महत्व देता है । अतः उसे समाजवाद का विरोधी नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

1- स्वामी करपात्री, मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर सं० 2019

2- राहुल सांकृत्यायन , रामराज्य और मार्क्सवाद, पिपुल्स पब्लिसिंग हाउस, प्रा०लि०नई दिल्ली 1981

3- करपात्री स्वामी, "राहुल की भ्रान्ति", गीता प्रेस, गोरखपुर ।

4- भागवत ,5/18/9

5- करपात्री स्वामी, मार्क्सवाद औररामराज्य, पृ०255-56

6- वही पृ० 254

7- वही पृ० 263

8- महाभारत, उद्योग पर्व , 33/60

9- स्वामी करपात्री, मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ० 270

10- वही पृ० 275

11- अखिल भारतीय रामराज्य परिषद का चुनाव घोषणापत्र, प्रकाशक श्री सन्तशरण वेदान्ती, धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1977, पृ० 2

12- वही पृ० 3

13- वही पृ० 3-4

14- स्वामी करपात्री , विचार पीयूष, श्री सन्तशरण वेदान्ती, प्रचार मंत्री, अखिल भारतीय रामराज्य परिषद, वाराणसी 1975 पृ० 246

15- वही पृ0 246

16- वही पृ0 246

17- तुलसीदास , रामचरित मानस, उत्तर काण्ड " दो060 चौ0 6

18- तुलसीदास, रामचरित मानस- उत्तर काण्ड दोहा 20

19- तुलसीदास- रामचरित मानस- उत्तर काण्ड दो0 चौ0 2

20- गीता, अध्याय 4, श्लोक 13

21- लव आफ गाड एण्ड सोशल ड्यूटी इन द रामचरित मानस, जे0एडमर बेबीन्यू मोतीलाल बनारसीदास 1979 पृ0 132

00

चतुर्थ खण्ड

आधुनिक समाजविचारकों पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी युगपुरुष थे । 20वीं शती में हुए विश्व के महानतम व्यक्तियों में उनका नाम निर्विवाद रूप से स्वीकृत है । वे विचारक, कर्मयोगी, राजनेता और महात्मा के रूप में जाने जाते हैं । परन्तु उनके सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों के विषय में विवाद है । कुछ लोग उन्हें अराजकतावादी मानते हैं, तो कोई धार्मिक नेता और कोई समाजवादी । इनमें कौन सा दृष्टिकोण सत्य है, यह विचारणीय है । प्रस्तुत प्रसंग में हमें यह विचार करना है कि क्या गाँधी जी समाजवादी थे । यदि वे समाजवादी थे, तो उनका समाजवाद क्या है? कुछ विचारक उन्हें समाजवादी कहते हैं और दूसरे पूँजीवादी मानते हैं । गाँधी जी को समाजवादी विचारक मानने वालों का आधार स्वयं गाँधी जी का वह उद्घोष है, जिसमें उन्होंने अपने को तथाकथित समाजवादियों से प्राचीनतर समाजवादी कहा है ।[1]

दूसरे विचारक जो गाँधी को समाजवादी नहीं मानते उन्हें धार्मिक उपदेशक मात्र कहते हैं । उनकी मान्यता है कि समाजवाद सच्चे अर्थों में केवल वैज्ञानिक समाजवाद है । अपनी बात को पुष्ट करते हुए इन विचारकों ने कहा है कि गाँधी के सामाजिक विचार व्यवहार योग्य नहीं हैं । वे काल्पनिक नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं और कोरे आदर्शों की स्थापना मात्र से किसी सिद्धान्त को मूल्यवान नहीं कहा जा सकता । उनका कथन है कि गाँधी के आदर्श यूटोपियन हैं, जो स्वर्गिक मूल्यों पर आधारित हैं और

जिन्हें सांसारिक मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता। इन नैतिक मूल्यों को ये विचारक नैतिकता का अम्ल ।मोरलिक एसिड। कहकर यह सिद्ध करते हैं कि ये मूल्य समाजवादी उद्देश्यों के लिये न केवल व्यर्थ अपितु हानिकारक भी हैं । किन्तु आदर्श का अव्यवहार्य होना उसे मूल्यहीन नहीं बनाता । उपर्युक्त आलोचनाओं का उत्तर देते हुए गांधी जी ने स्वयं कहा था, " यूक्लिड की परिभाषा वाला बिन्दु कोई मनुष्य खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी । इसी तरह मेरी इस तस्वीर की भी कीमत है ।"[2] यही कारण है कि गांधी द्वारा खींची गयी समाजवाद की तस्वीर अव्यवहार्य होते हुए भी मूल्यवान है । अभी तक कोई भी ऐसा आदर्श नहीं बना, जिसे पूर्ण रूप से प्राप्त करके किसी मनुष्य ने दिखा दिया हो । सत्य तो यह है कि आदर्श सदैव आदर्श बना रहता है और इसी में उसके उद्देश्य की पूर्ति है । अतः गांधी के आदर्श को भी अव्यवहारिक कहकर मूल्यहीन नहीं कहा जा सकता ।

गांधी जी के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन इस बात को पुष्ट करता है कि सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के विषय में उनके विचार सच्चे अर्थों में समाजवादी हैं । गांधी जी के समाजवादी विचारों का अध्ययन डा० वेणुधर प्रधान के ग्रन्थ " द सोशलिस्ट थाट आफ महात्मा गांधी "[3] में विषद रूप से मिलता है । दो खण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का आरम्भ डा० प्रधान इसी विरोधपूर्ण स्थिति से करते हैं । एक ओर गांधी जी के आलोचकों के विचार हैं, जो उन्हें परिवर्तनवादी एवं प्रतिक्रियावादी

मानते हैं, और दूसरी ओर गाँधी की घोषणा के साथ ही अन्य विचारकों के मत जो उन्हें सच्चा समाजवादी सिद्ध करते हैं ।[4] गाँधी जी तो सच्चा साम्यवादी तक होने का दावा करते हैं । इन्हीं दो स्थितियों की उपयुक्तता एवं तथ्यात्मकता की समीक्षा ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में की गई है ।

एंगेल्स ने समाजवादी विचारों को काल्पनिक ‌।यूटोपियन। एवं वैज्ञानिक ।साइन्टिफिक। दो वर्गों में बाँटा है । इस विभाजन में मार्क्स के सिद्धान्त को द्वितीय वर्ग में तथा अन्य समस्त सिद्धान्तों को प्रथम वर्ग में रखा गया है । मार्क्सवाद के अतिरिक्त अन्य समस्त सिद्धान्तों को काल्पनिक इस अर्थ में कहा गया क्योंकि ये सिद्धान्त केवल विचार-जगत् तक ही सीमित रहे । वास्तविक विश्व में इनकी कोई गति नहीं रही । इनके अनुरूप किसी समाज का निर्माण नहीं हो सका । इसका स्पष्ट कारण यह था कि इनमें व्यवहार्यता की सामर्थ्य ही नहीं थी । ये काल्पनिक सिद्धान्त जिन मूल्यों की चर्चा करते हैं , वे मूल्य मनुष्य को केवल बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्राणी के रूप में कल्पित कर लेते हैं । ये मानव की भौतिक प्रवृत्ति को उचित स्थान नहीं देते । बौद्धिकता के साथ-साथ मनुष्य में अन्य प्राणियों की तरह प्रवृत्तियाँ एवं भावनायें भी हैं । इन भावनाओं को बुद्धि एवं तर्क के द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। ये अन्य अनेक भौतिक शक्तियों द्वारा नियंन्त्रित होती हैं । अतएव बौद्धिक एवं आध्यात्मिक नियमों पर आधारित सिद्धान्त समाज का परिवर्तन एवं मार्ग दर्शन नहीं कर सकते । तर्क में निःसंदेह शक्ति होती है, किन्तु यह शक्ति सम्पूर्ण सामाजिक-

जीवन को व्यवस्थित करने में समर्थ नहीं हैं । इन विचारकों के अनुसार सम्पूर्ण मानव स्वभाव केवल मार्क्स एवं ऐंगेल्स द्वारा स्थापित सिद्धान्त में ही दर्शाया गया है । प्रेम और घृणा, युद्ध एवं शान्ति का सामाजिक महत्व बराबरहै, क्योंकि ये मनुष्य के लिये समान रूप से प्राकृतिक हैं ।

समाजवाद के दोनों रूप- काल्पनिक एवं वैज्ञानिक- एक ही आधार पर स्थित हैं औरवह आधार है- सामाजिक नीतिशास्त्र ।[5] दोनों सिद्धान्त एक ही सामान्य आदर्श "मानवता की भलाई"के लिए हैं । सामाजिक समानता ही उनका साध्य है । इस तथ्य के बावजूद गाँधी के सिद्धान्तों को काल्पनिक माना जाता है, क्योंकि यह कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो परआधारित सिद्धान्त नहीं है । गाँधी जी के सिद्धान्त वेदान्त के मूल्यों यथा त्याग, अपरिग्रह, अनासक्ति आदि के आदर्शों का आश्रय लेकर [6] मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग कोटि में रखते हैं । उनके अनुसार मनुष्य बौद्धिक अधिक हैं, भावना प्रधान कम । इसीलिए वह प्रेम और शान्ति को घृणा और युद्ध की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझते थे । इनकी अवहेलना स्वयं इन मूल्यों की स्थापना के लिए भी करना उनकी दृष्टि में अनुचित था । यह तो सत्य है कि इन मूल्यों को वैज्ञानिक समाजवाद भी स्वीकार करताहै, किन्तु उसकी दृष्टि में ये सहायक मूल्य हैं । अन्य उच्चतर मूल्यों की भी मान्यता वैज्ञानिक समाजवाद में है, जिनकी प्राप्ति के लिये पूर्वोक्त मूल्यों की अवहेलना उन्हें मान्य है । किन्तु गाँधी की मान्यता यह है कि ये वैज्ञानिक समाजवादी

इस तथ्य को भूल जाते हैं कि सत्य, अहिंसा और शान्ति को असत्य, हिंसा एवं युद्ध के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । यदि यह प्राप्ति संभव भी हुई, तो क्षणिक, आंशिक एवं अल्पकालिक ही होगी । स्थायी शान्ति एवं सत्य की स्थापना केवल सत्य एवं अहिंसा के द्वारा ही संभव है, क्योंकि पर्याप्त कारण ही किसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है ।

गांधी जी ने वैज्ञानिक समाजवाद द्वारा स्वीकृत वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को अशुभ माना है । उन्होंने कहा है, " वे ॥समाजवादी॥ यह बताते हैं कि धनी वर्गों एवं आम लोगों के बीच या पूँजीपतियों एवं मजदूरों के बीच आवश्यक रूप से ऐसा बैर या विरोध है कि वे एक दूसरे के भले के लिये कभी त्याग कर ही नहीं सकते । मेरा बड़े लम्बे समय का अनुभव इससे उलटा है । जरूरत इस बात की है कि मजदूर और कामगार अपने अधिकार को जानें और उन्हें आग्रह के साथ जताने का तरीका भी जानें ।"[7] समजावाद एवं सामाजिक समता की स्थापना के लिये भी अहिंसा का त्याग अनुचित है । सत्य तो यह है कि इन दोनों वर्गों का विरोध आभासी है । वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न समाजवाद सच्चा समाजवाद नहीं है । यह उसकी केवल अस्थायी अवस्था मात्र है । स्थायी समाजवाद तो दोनों वर्गो की परस्पर सूझ-बूझ से ही उत्पन्न हो सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि जनसामान्य का मानसिक एवं बौद्धिक स्तर इतना ऊपर उठा दिया जाय, कि वे उस स्थिति को समझ सकें, जिसमें दोनों वर्गों का हित एक हो जाता है । वास्तव में अगर मानव मूल्यों का विवेचन किया जाय तो उनकी एक ऐसी स्थिति

अनिवार्यत: आती है, जहाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले वर्गों के हित एक हो जाते हैं। अत: यह जान लेने पर कि दोनों वर्गों का हित एक है, संघर्ष की संभावनाही समाप्त हो जाती है।

कार्य-कारण सम्बन्ध की यह विशेषता है कि कारण के कुछ गुण कार्य में अवश्य विद्यमान होते हैं। इसलिए एक और तो युद्ध अधम होने के कारण शान्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता और दूसरी तरफ युद्ध एवं हिंसा से उत्पन्न होने वाले कार्य में इनके आंशिक गुण भी होंगे। अत: सिद्धान्तत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्ग-संघर्ष एवं घृणा के माध्यम से सच्ची सामाजिक समता प्राप्त नहीं हो सकती। अगर सच्चे एवं स्थायी समाजवादी समाज का निर्माण करना है, तो यह केवल उन्हीं मूल्यों के माध्यम से संभव है, जिन्हें नैतिकता का अम्ल कहकर वैज्ञानिक समाजवादी ठुकरा देते हैं।

सामान्यत: समाजवादी सिद्धान्तों में समाज के समस्त सदस्यों के समान अधिकार की बात कही गयी है, किन्तु गाँधी के विचारों में समान अधिकारों से अधिक महत्त्व समान कर्तव्यों का है। अधिकार और कर्तव्य के बीच अयुतसिद्धि संबंध है। एक दूसरे के बिना अर्थहीन हो जाता है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि किसी समाज में कर्तव्यों की समानता स्थापित हो जाय, तो अधिकारों की समानता स्वयमेव उपस्थित

होगी, किन्तु अधिकारों की समानता स्थापित होने पर कर्तव्यों की समानता सहज रूप में नहीं आती । द्वितीय स्थिति का अनुभव हम वर्तमान युग में साम्यवादी राज्यों का उदाहरण देखकर कर सकते हैं, जहाँ सामाजिक समता की प्राप्ति के लिये युद्ध लड़े गये । उन राज्यों में समाज की स्थिति और भी भयावह है । कर्तव्य एवं अधिकार अवियोज्य हैं, किन्तु यह मानव मन की कमजोरी है कि वह दो अवियोज्यों के बीच भी विभाजक रेखा खींचने का प्रयास करता है । अधिकारों की लालसा उनसे प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति और भी लोलुप बना देती है और अन्ततः व्यक्ति यह भूल जाता है कि कर्तव्य -पालन के बिना अधिकार की सुरक्षा नहीं हो सकती । यह भूल सामाजिक विघटन का कारण बन जाती है । अतः गाँधी के विचारों का समाजवाद सामाजिक स्थिरता के लिए अधिक युक्तियुक्त है ।

डा० वी०पी० गौड़ के अनुसार " गाँधी जी की मान्यता थी कि सच्ची समानता की स्थापना समाज के वैभवशाली वर्ग में कर्तव्य की भावना जगा कर ही हो सकती है । उनकी यह मान्यता गीता के अपरिग्रह सिद्धान्त के प्रभाव के फलस्वरूप बनी थी । धनवान को वह धन हीनों के ट्रस्टी के रूप में देखना चाहते थे ।"[8] गाँधी समाजवाद के लिए जिस विधि को उपयुक्त समझते थे उसे "शान्ति पूर्ण क्रान्ति" की संज्ञा दी गयी है । [9] इस शान्तिपूर्ण क्रान्ति के माध्यम से, जिसे गांधी स्वयं "सत्याग्रह" कहते थे, जब धनवान धनहीनों के प्रति अपने कर्तव्य का सचमुच अनुभव कर लेते हैं, जब उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि उनके अधिकार असीमित नहीं है और धनहीनों के

अधिकार सीमा रेखा बनकर प्रकट हो जाते हैं तो यहीं से समाजवाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । इसके फलस्वरूप जिस समाज की स्थापना होती है, वह अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ एवं स्थायी होता है । अधिकारों एवं कर्तव्यों को समुचित रूप से समायोजित करके ही समाज चल सकता है ।

महात्मा गांधी सत्याग्रह को समाजवाद का साधन मानते थे । डा० वेणुधर प्रधान ने लिखा है कि -" गांधी के अनुसार यह सिद्धान्त व्यावहारिक एवं पारमार्थिक उपलब्धियों के लिये रामबाण है ।"[10] इसके माध्यम से समाज की समस्त आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है । "सत्याग्रह व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की बुराइयों को दूर करने में समर्थ है । व्यक्तिगत स्तर पर यह व्यक्ति के आचरण को शुद्ध करने का उपाय है और सामाजिक स्तर पर यह असमाजवादी शक्तियों पर काबू पाने की रणनीति तैयार करता है ।"[11]

सच्चे सत्याग्रही के लिए जिन पाँच व्रतों सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का विधान गांधी जी ने किया था, उनमें भी वे अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकार करते थे । समाज के लिये इनका होना अत्यन्त उपयोगी है । वास्तव में इन शब्दों का सामान्य अर्थ से परे एक पारिभाषिक अर्थ भी उनके आचारशास्त्र में मिलता है । उदाहरण के लिए उन्होंने उन समस्त क्रियाओं को चोरी माना है, जिनमें मौलिक आवश्यकता से अधिक कोई ले लेता है ।" "अपनी आवश्यकता

से अधिक किसी वस्तु को स्वीकार करना चोरी है । "[12] अतः यह अस्तेय का विरोधी है । सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक है कि केवल अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करे । संचय की प्रवृत्ति बुरी है । यहाँ गांधी के विचार आधुनिक युग के अराजकतावादी तथा साम्यवादी विचारकों के समतुल्य हैं । अस्तेय और अपरिग्रह के साथ ही महात्मा गाँधी के ब्रह्मचर्य शब्द का विशिष्ट अर्थ है । इसे व्यक्तिगत मानवीय मूल्य के रूप में तो पहले से ही मान्यता प्राप्त थी । गाँधी जी ने इसे सामाजिक मूल्य प्रदानकिया । इस व्रत के पालन से जहाँ व्यक्ति का हित होता है, वहीं समाज का भी हित होता है । दादा धर्माधिकारी ने "सर्वोदय दर्शन" नामक अपने ग्रन्थ में इसे "सामाजिक-ब्रह्मचर्य" संज्ञा प्रदान की है । [13]इससे समाज की प्रत्येक स्त्री माँ, बहन अथवा पुत्री तथा प्रत्येक पुरुष पिता, भाई अथवा पुत्र बन जाता है । इस प्रकार यह सम्पूर्ण समाज एक परिवार जैसा हो जाता है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श की ओर बढ़ने के लिये यह सामाजिक-ब्रह्मचर्य अत्यधिक सहायक है ।

एक व्यक्ति की संचय की प्रवृत्ति लाखों लोगों को दुःखी करती है । किसी व्यक्ति द्वारा केन्द्रीकृत सम्पत्ति अनेक लोगों को भूखों मरने के लिए बाध्य करती है । धन के प्रति लिप्सा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, इसको तभी समाप्त किया जा सकता है, जब लोलुपको इस

तथ्य की पूर्ण जानकारी दे दी जाय कि स्वयं उसके तथा लाखों अन्य लोगों के दुःख का कारण उसकी धन लिप्सा है । अतएव गांधी अपरिग्रह को सामाजिक मूल्य तथा सत्याग्रह की आवश्यक शर्त स्वीकार करते थे । इसी प्रकार अहिंसा और ब्रह्मचर्य को भी आवश्यक मानते हैं । अहिंसा का पारिभाषिक अर्थ है, "सार्वभौम प्रेम" [15] और ब्रह्मचर्य का अर्थ है " विवाह, परिवार आदि समाजिक संस्थाओं से दूर"।[16] इन मूल्यों को स्वीकार करने पर ही सच्चे सत्याग्रह का पालन संभव है । ये संस्थायें व्यक्ति के प्रेम को सीमित करती हैं और अहिंसा के मार्ग में बाधक बनती हैं । व्यक्ति की सीमाओं से बाहर निकलकर समाज की सेवा के लिये आवश्यक ये सद्गुण, जिन्हें सत्याग्रह की आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है, गीता में स्वीकृत संन्यासी के सिद्धान्त के समतुल्य ही है । गांधी जी के पूर्ववर्ती विचारकों में स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी विवेकानन्द ने भी समाज सेवा तथा समाजवाद के लिए जिस संन्यासी को उपयुक्त कार्यकर्ता माना है, उसमें इन्हीं गुणों की आवश्यकता पर बल दिया है । गीता का निष्काम कर्मयोगी उसी प्रकार का आचरण करता है, जैसा आचरण गांधी का सत्याग्रही । गांधी के विचारों पर गीता दर्शन की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है ।

गांधी के सामाजिक तथा राजनैतिक विचारों पर अधिकारी लेखक आचार्य जे0बी0 कृपलानी ने भी यह स्वीकार किया है कि "खादी एवं चरखा के माध्यम से उन्होंने समाज के निर्धन वर्ग के हित की बात कही है।" [17]

खादी एवं चरखा श्रमिक निर्धन वर्ग को स्वावलंबी बनाने का व्यावहारिक उपदेश है । स्वावलंबन से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है और सामाजिक समता के लिए आत्मविश्वास आवश्यक है । डा० महादेव प्रसाद ने अपने ग्रन्थ " सोशलफिलासफी आफ महात्मा गांधी" में कहा है कि "समाजवाद की आत्मा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में बसती है"[18] और उपर्युक्त साधन ।खादी एवं चरखा। इसी दुर्गुण को दूर करने के लिए हैं । निष्कर्ष यही निकलता है कि गांधी सच्चे समाजवादी तथा सामज के निर्धन एवं असहाय वर्ग के लोगों के सच्चे मार्ग दर्शक थे । महादेव प्रसाद जी अपनी पूर्वोद्धृत पुस्तक में इस तथ्य की विशद चर्चा करते हैं कि साम्यवाद के अनुसार सम्पूर्ण विरोधों का कारण व्यक्ति का स्वार्थी स्वभाव है ।[19] स्वार्थपरता का कारण व्यक्तिगत-सम्पत्ति के साथ उसका गहरा लगाव है । इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम कारण पर ही प्रहार किया है । कारण के समाप्त हो जाने पर कार्य स्वयमेव समाप्त हो जाता है । अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के साथ ही सम्पूर्ण विरोधों का भी शमन हो जाता है । किन्तु इसके निमित्त जिन साधनों का प्रयोग साम्यवादी करते हैं, वे अत्यन्त गर्हित एवं निन्दनीय हैं । किसी व्यक्ति को बलपूर्वक निःस्वार्थ नहीं बनाया जा सकता है । यह तो केवल आन्तरिक परिवर्तन द्वारा ही संभव है । बलात् किसी की सम्पत्ति को छीनकर उसे निर्धन रहने को मजबूर तो किया जा सकता है, किन्तु अपनी स्थिति पर उसे सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता । इस प्रकार

केवल प्रयोग में एक दोष और भी होता है । इसके द्वारा उत्पन्न स्थिति अनिश्चित एवं अस्थाई होती है ।

वैज्ञानिक समाजवाद से गांधी जी भलीभांति परिचित थे । उन्होंने इसकी अनेक स्थलों पर सराहना भी की है । कम से कम साध्य के प्रश्न पर तो वे इससे पूर्णरूपेण सहमत थे । उन्हें यह तो मान्य था कि समाज का निचला वर्ग उच्च कार्यों में समान भूमिका निभाये । दोनों के भौतिक अधिकार समान हों, आर्थिक समानता और समान सामाजिक स्तर मिले । किन्तु साधनों को लेकर उनका मत भिन्न था । वर्ग-संघर्ष जैसे हिंसक मार्ग को वे अनुचित मानते थे । कुछ अन्य मौलिक प्रश्नों पर भी उनका मतभेद स्पष्ट प्रतीत होता है । वे व्यक्तिगत-सम्पत्ति के विरोधी नहीं थें, यद्यपि इसकी अनियंत्रित वृद्धि उन्हें मान्य न थी । इस सम्पत्ति का अर्जन और संग्रह तो उचित है, किन्तु मनमाने ढंग से इसका खर्च अनुचित है । यह खर्च जनहित और समाज हित में ही होना चाहिए । इसके लिये गांधी जी ने हृदय परिवर्तनका मार्ग सुझाया है । [20] उनकी मान्यता थी कि पूंजीपतियों और मजदूरों दोनों के हृदय परिवर्तन की आवश्यकता है । दोनों को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि उनके अधिकारों के साथ कुछ नियत कर्तव्य भी हैं । अत: उन्मुक्त अधिकारों की प्रवंचक स्थिति से उन्हें दूर रहना चाहिए । पूंजीपतियों को संग्रहीत धन का मालिक नहीं, अपितु न्यासी समझना चाहिए । इसका व्यय जनहित में करने पर उन्हें आध्यात्मिक लाभ होगा । दूसरी ओर मजदूरों

को चाहिए कि वे पूँजीपतियों को अपना शत्रु न समझें । उनके प्रति मित्रभाव रखें और अपने अधिकारों को शान्तिपूर्ण एवं अहिंसक ढंग से उनके सम्मुख रखें । समता के अपने अधिकारों की माँग करना सत्य के मार्ग पर चलना है । सत्य के लिये अहिंसा परमावश्यक है । अतः मांगों की पूर्ति भी अहिंसक ढंग से ही होनी चाहिए ।

वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित राज्यों का उदाहरण हमारे सामने हैं । निश्चित रूप से इन राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति की मूलभूत शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुरक्षित है । किन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अनेक उच्चतर आवश्यकताओं को दबाया भी जा रहा है । उदाहरण के रूप में स्वतंत्रता का उल्लेख किया जा सकता है । व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिये भी स्वतन्त्र नहीं है । राज्य के हाथों सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित है और वही सर्वोच्च है । मार्क्स ने राज्य संस्था के विघटन की कल्पना की थी । किन्तु यह कल्पना साकार नहीं हो सकती । इसका सबसे प्रमुख कारण है कि यह विघटन व्यक्ति के नैतिक उन्नयन का परिणाम माना गया है, जिसके लिए इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है । जिन सद्गुणों के आधार पर व्यक्ति का नैतिक उन्नयन संभव होता है, उन्हें "नैतिकता का अम्ल" कहकर वैज्ञानिक समाजवादी त्याग देते हैं । ऐसी स्थिति में राज्य सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में विद्यमान है और रहेगा । इस स्थिति को सर्वहारा का अधिनायक तंत्र कहा गया है, किन्तु वह वास्तव में राजतंत्र के निरंकुश शासन का ही दूसरा रूप है । देशभक्ति एवं अनुशासन की भावना को

जगाने के लिए इन राज्यों में जिस प्रकार मानव इच्छा का दमन हो रहा है, वह सामाजिक तथा नैतिक दृष्टियों से अमानवीय है । इस दमन के विरुद्ध प्रतिक्रिया आज साम्यवादी राष्ट्रों में दिखाई पड़ रही है । चीन में जुलाई 1989 ई0 में तेन्स्यामेन चौक।बीजिंग। में छात्रों एवं नागरिकों का प्रजातंत्र की स्थापना हेतु अभूतपूर्व आन्दोलन हुआ, जिसमें शासन द्वारा हजारों छात्रों का निर्मम संहार किया गया । यह दमन इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है ।

राज्य को एक केन्द्रीय सर्वशक्तिमान सत्ता मानने के स्थान पर गांधी जी ने ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया है, जिसके अनुसार राज्य केवल व्यक्ति के हित के लिए होना चाहिए । शक्ति के केन्द्रीकरण-सिद्धान्त के विरोध में गांधी जी विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त स्वीकार करते थे । उनकी दृष्टि में राज्य अनेक स्वतंत्र ग्राम राज्यों का संगठन होना चाहिए । इन ग्राम राज्यों तक व्यक्ति की पहुँच अपेक्षाकृत अधिक आसान होगी और इसीलिए ये व्यक्ति के हितों को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे । राज्य के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में एक और तर्क दिया जा सकता है । ऐसा कहा गया है कि " सत्ता भ्रष्ट बनाती है और निरपेक्ष सत्ता निरपेक्षरूप से भ्रष्ट बना देती है ।" सत्ता और भ्रष्टाचार में सीधा संबंध है । अत: सत्ता जितनी ही कम होगी, भ्रष्टाचार भी उतना ही कम होगा । पूर्णरूपेण निर्दोष सिद्धान्त तो कल्पना मात्र है, अत: कम से कम भ्रष्ट सिद्धान्त को ही ठीक माना जायेगा । इस तर्क से यह स्पष्ट है कि यदि किसी राज्य को भ्रष्ट होने से बचाना है, तो उसे न्यूनतम सत्ता दी जाय । इस कसौटी पर कसने पर गांधी द्वारा प्रस्तावित ग्राम राज्य का सिद्धान्त अधिक

हितकर एवं निर्दोष होगा, क्योंकि अपने अन्य गुणों के साथ-साथ इसमें भ्रष्ट होने के लिए अवसर भी कम हैं और इसीलिए यह व्यक्ति के हितों को अधिक अच्छी तरह उन्हें दे सकेगा । राज्य संबंधी गांधी के इन विचारों में एक तरफ तो सर्वहारा के अधिनायक तंत्र के उत्पीड़न से जनसामान्य को बचाया जा सकेगा और दूसरी ओर आसान और स्थायी मार्ग पर चलकर समतावादी समाज की संरचना भी संभव हो सकेगी । व्यक्ति अपनी शारीरिक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी कर सकेगा । इस व्यवस्था में विकास के अधिक अवसर हैं ।

राज्य के विषय में वैज्ञानिक समाजवादी की यह कल्पना है कि सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के बाद पूर्ण समता या साम्यवादी समाज का आगमन होगा । यद्यपि अभी तक वह कहीं नहीं आया है । इसके बाद की स्थिति अराजकतावाद कही गयी है, जिसमें राज्य का विघटन हो जायेगा और जनता स्वयं अपने सामाजिक एवं राजनैतिक जीवनकी व्यवस्था कर लेगी । इस स्थिति की कल्पना केवल उन्हीं लोगों के लिए सत्य हो सकती है, जिनका नैतिक उन्नयन इस सीमा तक हो जाय कि त्यागपूर्ण जीवन बिताना उनका स्वभाव बन जाय । किन्तु ऐसी स्थिति लाने की जो पूर्व शर्तें हैं, उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद पूरी नहीं करता क्योंकि इस व्यवस्था में विचारों को गौण माना गया है, मूल पदार्थ तो जड़ है, जिसमें विचार -परिवर्तन और हृदय -परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता । पुनश्च इस व्यवस्था में नैतिक मार्ग को त्याग कर समता की स्थापना तो वैध माना गया तथा वर्ग-संघर्ष को

शाश्वत बना दिया गया है । इन तथ्यों के होते हुए व्यक्ति के नैतिक उन्नयन की कल्पना केवल कल्पना ही बन कर रह जायेगी । इसे साकार बनाना संभव नहीं हो सकता है । इन तथ्यों के आलोक में अपने आदर्शों को जब वैज्ञानिक समाजवादी देखे तो वह इन्हें न तो प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार ही कर सकता है और न ही अस्वीकार ।

इस समस्या का सच्चा समाधान तो वेदान्त के मूल्यों में निहित है । त्याग-प्रधान सिद्धान्त ही इसका समाधान कर सकता है । गांधी के सामाजिक विचारों के आलोक में इसे परखा जाय । सत्य, अहिंसा, कर्तव्य -बोध और स्वार्थों के त्याग पर आधारित व्यवस्था ही व्यक्ति को उस स्तर तक पहुंचा सकती है, जहाँ वह राज्य जैसी सत्ता के बिना भी अपना सामाजिक जीवन शान्ति एवं सुख के साथ बिता सकता है । वैज्ञानिक समाजवाद द्वारा उत्पन्न किये गये अनेक सामाजिक दोषों की दवा गांधीवाद में निहित है, कमी केवल उनके सही तरीके से प्रचार की है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन समस्त सामाजिक दोषों का एकमात्र उपचार"त्याग" में है । त्याग का तात्पर्य समाज और सामाजिक जीवन का त्याग नहीं, अपितु स्वार्थों, व्यक्तिगत अधिकारों का त्याग है । थोड़े से त्याग से बहुत अधिक प्राप्ति हो सकती है, यह समाजवाद का नारा होना चाहिए । यहाँ " थोड़ा सा त्याग स्वार्थ का त्याग है और " बहुत अधिक प्राप्ति सम्पूर्ण मानवता की प्राप्ति"है । इस नारे पर टिका समाजवाद

अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होगा । किन्तु त्याग में कष्ट है, इन्द्रिय दमन है, निजी सुख सुविधाओं और लौकिक उपलब्धियों का बलिदान है । अधिकार में निजी सुख सविधाओं का उपभोग और लौकिक उत्कर्ष के लिए स्थान है । अतः सामान्यतः कर्तव्य का प्रश्न आने पर लोगों में यह भावना उठती है कि वह स्वयं कर्तव्य का मार्ग अपनाकर कष्टमय जीवन क्यों व्यतीत करें । इस कारण वे कर्तव्य का दायित्व अन्य लोगों पर ढालना चाहते हैं और अधिकार का अवसर आने पर सुख सुविधाओं का स्वयं उपभोग करना चाहते हैं । यदि लोगों का यही स्वभाव ठीक विपरीत दिशा में मोड़ दिया जाय अर्थात् लोग कर्तव्य के प्रति स्वतः सचेष्ट हों और अधिकार को सार्वजनिक मान लें अर्थात् उसमें निहित सुख सुविधाओं का सब मिलकर उपभोग करें, तो उपर्युक्त सभी दोष दूर हो सकते हैं और एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकती है ।

इस परिवर्तन में रक्त-क्रान्ति कोई सहायता नहीं कर सकती । इसमें तो केवल मूल्य-चेतना को जागृत करना ही एकमात्र उपयोगी कार्य होगा । त्याग के आदर्श को व्यवहार में लाकर ही यह जागृति की जा सकती है । अन्ततोगत्वा यही स्थापित होता है, कि सामाजिक जीवन को सुख-शान्ति पूर्ण बनाने में केवल त्याग ही समर्थ आधार है । महात्मा गांधी के इन विचारों का महत्व इसलिए कदापि नहीं है कि उनके द्वारा निर्मित एवं संचालित विधियों से भारत को स्वतंत्रता मिली, वरन् इसका महत्व इसलिए है, कि इन विचारों में एक नये मानव-समाज का बीज छिपा है ।

इनका महत्व उपजीव्यता की दृष्टि से भी अत्यधिक है । गांधी के सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों को आधार बनाकर भूदान, जीवनदान, ग्रामदान जैसे अनेक कार्यक्रम आचार्य विनोबाभावे और जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रवर्तित किए गए, जिनमें " दान" के माध्यम से सामाजिक समता की स्थापना के प्रयत्न हुए । यह "दान" "त्याग" का ही सामाजिक पक्ष है । त्याग को सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करके ही समाज की समस्याओं को सुलझाया जा सकता है ।

1- मो0क0गांधी, यंग इंडिया, 1931, पृ053

2- गांधी जी, (संग्राहक श्री आर0के0 प्रभु) मेरा समाजवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद 1959 पृ0 9

3- वेणुधर प्रधान, सोशलिस्ट थाट आफ महात्मागांधी, जी0डी0के0 पब्लिकेशन, 3623 छावनी बाजार दिल्ली .

4- द्रष्टव्य वही खण्ड । पृ0 1-3

5- वही खण्ड । पृ0 96, 97

6- गांधी जी, सं0आर0के0प्रभु, - " उसमें राजा और प्रजा, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर सब एक स्तर पर होते हैं। कर्म की भाषा में कहे तो सामाजवाद में भेद-भाव नहीं होता । सर्वत्र एकता, अद्वैत का प्रभुत्व होता है।" पूर्वोद्धृत ग्रन्थ , पृ0 6

7- वही पृ0 9

8- वी0पी0गौड़, महात्मा गांधी: ए स्टडी आफ हिज मेसेज आफ नानवायलेन्स, स्टर्लिंग पब्लिसर्स प्रा0लि0ए0बी0/9 सफदरजंग एन्क्लेब, नयी दिल्ली, 1977, पृ0 21

9- " गांधीज प्रोग्राम वाज पीसफुल रिवोल्युशन", लुइस फिशर- द लाइफ आफ महात्मा गांधी, पृ0 89

10- वेणुधर प्रधान, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 1, पृ0 258

11- वही, पृ0 258

12- वही, पृ0 260

13- दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी, 1983, पृ0 237

14- वही पृ0 260

15- वही पृ0 262

16- वही पृ0 262

17- जे0बी0कृपलानी, गांधीयन थाट, गांधी स्मारक निधि नई दिल्ली 1961

18- द्रष्टव्य- महादेव प्रसाद, सोशल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर पृ0 54

19- डा0 महादेव प्रसाद, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ0 54

20- द्रष्टव्य- गांधी जी, मेरा समाजवाद पृ0 13

0

जय प्रकाश नारायण

लोकनायक जयप्रकाश नारायण वर्तमान युग के महान विचारक थे। उनका जीवन सत्ता से अलग रहकर समाज के लिए जिया गया एक आदर्श जीवन है। प्रभुता से अलग रहने वाला जीवन प्राय: निष्क्रिय और आत्मकेन्द्रित होता है। किन्तु जयप्रकाश जी ने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया है, जो इसका खण्डन करता है। उनके जीवन काल में अनेक सिद्धान्त उनसे जुड़े और कालक्रम में बिछुड़ गए। वे अनेक जन-आन्दोलनों के नेता रहे, और इसके लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिए। उनके जीवन की बाह्य - यात्रा आन्तरिक-यात्रा को प्रतिबिम्बित करती है। वास्तव में बाह्य - परिवर्तन तो आन्तरिक और वैचारिक परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होता है। यह बात जयप्रकाश जी के जीवन और विचारों का अवलोकन करने पर और स्पष्ट हो जाती है।

जय प्रकाश नारायण आरम्भ में मार्क्सवाद से अत्यन्त प्रभावित थे। दीर्घकाल तक वे इस प्रभाव में रहे। भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से प्रवेश करने के बाद वे गाँधी तथा अन्य तत्कालीन नेताओं के सम्पर्क में आये। अपने वैचारिक इतिहास की प्रौढ़ावस्था में वे मार्क्सवाद से अपना विरोध प्रकट करने लगे थे। सन् 1940 के बाद से वे अपने राजनैतिक-विचारों को मार्क्सवाद के स्थान पर "लोकतांत्रिक समाजवाद" की संज्ञा देने लगे।

जय प्रकाश जी इस तथ्य से अवगत थे कि शान्तिपूर्ण समाजवाद भी संभव है । अपने " समाजवाद की ओर संक्रमण" लेख में उन्होंने लिखा है कि " मार्क्स स्वयं यह स्वीकार करता था कि समाजवाद के लिए दो वैकल्पिक मार्ग हैं । प्रथम शान्तिपूर्ण एवं लोकतांत्रिक मार्ग एवं द्वितीय क्रान्ति का मार्ग ।"[2] किस समाज के लिए कौन सा मार्ग श्रेयस्कर होगा, यह उस समाज की परिस्थिति के द्वारा निर्णीत होगा । हिंसक मार्ग के प्रति उनकी अश्रद्धा उत्तरोत्तर बलवती होती गयी । उनकी मान्यता यह थी कि हिंसक मार्ग द्वारा प्राप्त समाजवाद लोकहित से परे हो जाता है । यह लोकतंत्र का विरोधी है । इसका ज्वलंत उदाहरण उनके सम्मुख रूस का था । अधिकारी तंत्र के दमनकारी रूप से उन्हें घृणा थी, इसीलिए उन्होंने कहा है कि "इतिहास से मैं लेना चाहता हूँ।"[3] कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि समाजवाद के शान्ति-पूर्ण तरीके केवल एक सीमा तक ही सफल हो सकते हैं । अन्ततोगत्वा रक्त-क्रान्ति का आश्रय लेना ही पड़ेगा । हिंसात्मक-क्रान्ति के बिना सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन संभव ही नहीं है । जयप्रकाश जी ने इस मान्यता का स्पष्ट खण्डन किया है । उन्होंने कहा है, " मैं अत्यन्त उत्कटता पूर्वक विश्वास दिलाना चाहूँगा कि "अन्तिम स्थिति में हिंसा आवश्यक है" यह मान्यता गलत आधार पर खड़ी है ।"[4] सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के लिए लोकतांत्रिक विधि का तात्पर्य केवल संसदीय-विधि या संवैधानिक-विधि ही नहीं है । इसमें वे वृहद जनान्दोलन एवं शान्तिपूर्ण अहिंसक कार्यवाही को भी सम्मिलित करते हैं ।[5] ये समाजवाद के साधन हिंसा के मार्ग की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर हैं ।

लोक-समर्थन को लोक-हित का साधन बनाना" यही उनकी कार्यविधि थी, जिसके द्वारा सर्वोत्तम तरीके से समाजवाद की स्थापना हो सकती है ।

जयप्रकाश के विचारों में यह क्रान्तिकारी-परिवर्तन भारतीय शास्त्रों के प्रभाव से हुआ । एक ओर तो वे गाँधी जी की नीतियों से प्रभावित थे, दूसरी ओर गीता आदि भारतीय शास्त्रों का प्रभाव भी उन पर पड़ा । निष्काम भाव की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि " लक्ष्य जहाँ ऊँचे हैं, और आशाएं बलवती हैं, वहाँ हमें गीता की सिखावन के अनुसार निष्काम भावना से काम करना चाहिए । हमें न सफलता से उत्तेजित और न विफलता से निराश होना चाहिए।"[6] अविलम्ब फल प्राप्त करने की इच्छा तो अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है । रक्त-क्रान्ति का मार्ग अविलम्ब फल-प्राप्ति का मार्ग है । इसीलिए वे इसे अनुचित मानते थे । शान्तिपूर्ण मार्ग से समाजवाद का आगमन धीमी गति से होगा , किन्तु वह स्थायी होगा । यदि वह विधि एक या अनेक बार विफल भी होती है, तब भी निष्काम कर्मयोगी को इसका कोई कष्ट नहीं होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि में सफलता एवं विफलता दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं होता । ये दोनों कार्य और उसकी विधि को मापने के पैमाने हैं । इससे केवल कार्यविधि का औचित्य अथवा अनौचित्य ज्ञात होता है । इससे कर्ता और अधिक दृढ़-संकल्प से सम्यक् प्रयास के लिए उत्साहित होगा ।

समाजवाद की सच्ची स्थापना के लिए जयप्रकाश जी राष्ट्रीयकरण को भी उपयोगी नहीं मानते, क्योंकि इसके द्वारा तो केवल अधिकारीतंत्र की स्थापना ही हो पाती है । इस सन्दर्भ में रूस का उदाहरण उनके समक्ष था, जहाँ समस्त अर्थव्यवस्था राज्य के हाथों में केन्द्रित है, और सब कुछ राष्ट्रीयकृत है । उन्होंने कहा है कि" आर्थिक-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष केन्द्रीकरण, अधिकारितंत्र करण, औधोगिक लोकतंत्र का अभाव, संक्षेप में आर्थिक प्रक्रियाओं पर लोक-नियंत्रण का अभाव है ।"[7] रूस की आर्थिक व्यवस्था में ये समस्त दोष। विद्यमान हैं, अतएव जयप्रकाश जी ने भारत के लिए उपयुक्त अर्थव्यवस्था को लोकतांत्रिक और विकेन्द्रीकरण पर आधारित स्वीकार किया है । अधिकारीतंत्र एवं केन्द्रीकरण में शोषण, अतिरिक्त मूल्य का असमान वितरण इत्यादि दोषों के लिए स्थान होता है । अत: सच्चा समाजवाद तो लोक-नियंत्रण के द्वारा ही संभव है । लोक-नियंत्रण का तात्पर्य है-विकेन्द्रीकरण । इसीलिए जयप्रकाश जी की मान्यता है कि व्यवस्था ग्राम स्तर पर होनी चाहिए, केन्द्र स्तर पर नहीं । उनका यह विचार गाँधी जी के ग्राम-राज्य के विचारों और डा० लोहिया के चौखम्बा राज्य के सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है ।

समाजवाद की इस व्यवस्था को वे केवल राष्ट्रीय स्तर तक सीमित नहीं रखते । इसकी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापकता की ओर भी उन्होंने संकेत किया है । जिस विधि को समाजवाद के लिये उपयुक्त माना गया है, उसका राष्ट्रीय कार्यक्रम आन्तरिक अवसरों का समीकरण, उत्पादित सम्पत्ति का

पुनर्वितरण तथा थोड़े लोगों के हाथों में केन्द्रित राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण है । अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम की रूपरेखा देते हुए उन्होंने कहा है कि " औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों को इस कर्तव्य का बोध कराया जाना चाहिए, कि वे अपेक्षाकृत पिछड़े राष्ट्रों की सहायता करें । जागतिक विकास-समुच्चय द्वारा पिछड़े देशों का स्तर उठाने में उन्हें सहयोग की भावना रखनी चाहिए ।" [8] यद्यपि दूसरी कठिनाई का आभास उन्हें था जिसकी ओर उन्होंने अपने देश के ही विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों के माध्यम से संकेत किया है । कुछ राज्य खाद्यान्नों की दृष्टि से बचत वाले हैं, वे उन राज्यों की मदद करने में स्वार्थपूर्ण रवैया अपनाते हैं, जो खाद्य-सामग्री की दृष्टि से घाटे वाले राज्य हैं, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी आशा करना तो और भी अधिक कठिन है ।[9] यह कठिन अवश्य है, किन्तु ऐसा करना असंभव नहीं है । इसके लिए उन्नत देशों एवं राज्यों में कर्तव्य-बोध को जाग्रत करने की आवश्यकता है । उन्हें यह समझना पड़ेगा कि पिछड़े एवं गरीब राज्यों एवं राष्ट्रों की मदद करना उनका कर्तव्य है, और कर्तव्य के पालन के लिए वे नैतिक रूप से बाध्य हैं । यह मदद भिक्षा में नहीं मिलती, बल्कि यह गरीब एवं पिछड़ों का नैतिक अधिकार है । इस अधिकार एवं कर्तव्य का बोध मानवता की नैतिकता से निःसृत होता है ।

समाजवाद की स्थापना के लिए प्रचलित विधियों में एक संसदीय या संवैधानिक विधि है । पाश्चात्य जगत् में यह विफल हो चुकी है । दूसरी

साम्यवादी हिंसात्मक विधि है, जिसे सच्ची सफलता नहीं मिल सकी है। जयप्रकाश जी की मान्यता है कि इन दोनों का विकल्प अहिंसक जन-आन्दोलन है। इस विधि में एक ओर तो हिंसा को अलग रखकर कार्य किया जाता है। और दूसरी ओर कानून को पूर्णतः सत्य नहीं स्वीकार किया जाता। इसके सुन्दर उदाहरण के रूप में उन्होंने बिनोवा भावे के भूदान आन्दोलन का उल्लेख किया है।[10] इस आन्दोलन का उद्देश्य है समान सामाजिक वितरण। समानता के उद्देश्य की पूर्ति में यह मार्ग एक ओर तो अहिंसा का कट्टरता से पालन करता है, दूसरी ओर विधि और कानून को भी पूर्णरूपेण सत्य नहीं स्वीकार करता। जनान्दोलन द्वारा प्राप्त भूमि का पुनर्वितरण कानून के माध्यम से करना ही इस आन्दोलन की विशेषता है। कानून का कार्य गौण है, मुख्य कार्य तो जनान्दोलन द्वारा ही सम्पादित होता है। इस सिद्धान्त के पीछे एक मान्यता छिपी है, कि " वास्तविक क्रान्ति मूल्यों की क्रान्ति है। लोक जीवन में जब मूल्यांतरण हो चुकता है, तब वह कानून में प्रतिबिम्बित होता है।"[11] इसी कारण कानून को गौण स्थान दिया गया है। यह मूल्यान्तरण अशान्तिपूर्ण एवं हिंसात्मक कार्यवाही द्वारा संभव नहीं हैं। जयप्रकाश जी राजसत्ता को भी इस मूल्यांतरण में बहुत उपयोगी नहीं मानते। जनचेतना की लहर राज्य अथवा राज्य के नियमों के सहारे नहीं बढ़ सकती। इसके लिये जनमानस को तैयार करना होगा। यही कारण है कि वे अपने उन सहयोगियों से अप्रसन्न रहते थे, जो सत्ता हस्तगत करने की प्रबल इच्छा रखते थे, और इसके माध्यम से सामाजिक न्याय की स्थापना

करने की बात सोच रहे थे । उन्होंने कहा है, "यदि हम सामाजिक क्रान्ति के इस विधानवादी विचार को ही आग्रह पूर्वक मानते रहेंगे, तो मुझे संदेह नहीं कि हमें भी पश्चिम के समाजवादियों के समान मोहभंग से गुजरना पड़ेगा"।[2] यह कार्य केवल तीव्र जनान्दोलन के द्वारा ही हो सकता है । बिनोवा द्वारा संचालित भूदान-यज्ञ इसी कोटि का जनान्दोलन है । इसे उन्होंने "लोकनीति"।[3] की संज्ञा दी है । उनका कथन है कि इस कोटि का तीव्र एवं गहन जनान्दोलन अराजनीतिक नहीं हो सकता, किन्तु समान्यत: प्रचलित अर्थ में इसे राजनीतिक भी नहीं कहा जा सकता । वास्तव में यह लोकनीति द्वारा संचालित होता है ।

जयप्रकाश जी की यह मान्यता थी कि समाजवाद का आधार कुछ मानवीय मूल्य हैं । वे मूल्य साध्य हैं, शेष विधियाँ उनका साधन हैं । जिन मूल्यों की चर्चा इस संदर्भ में मिलती है, उनमें प्रमुख हैं, समता, स्वतंत्रता बंधुत्व, शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व । ये मूल्य साध्य हैं, इन्हें प्राप्त करने का साधन समाजवाद प्रस्तुत करता है । इन मूल्यों की मात्र राजसत्ता के माध्यम से प्राप्ति एक कल्पना मात्र है । वास्तविकता यह है कि राजसत्ता हस्तगत कर लेने पर इन आदर्शों को प्राय: विस्मृत कर दिया जाता है । साम्यवाद पर भी टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि "वहाँ भी वहीं प्रक्रिया काम कर रही है । वहाँ अधिनायकतंत्र को लोकतंत्र, राजकीय-पूँजीवाद को समाजवाद, उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रीय-विस्तारवाद को विश्व-

क्रान्ति की संज्ञा दी जा रही है ।"[14] इससे जो सबसे बड़ी हानि हुई है, वह है मूल्यों का ह्रास । समता एवं स्वतंत्रता जैसे समाजवादी मूल्य वहाँ अब भी कल्पना मात्र रह गये हैं । एशियाई समाजवाद के सम्मुख दो प्रबल खतरों का अनुभव उन्होंने किया था । प्रथम को वे "समाजवाद का नकारात्मक दृष्टिकोण" कहते हैं, जिसमें केवल सामन्तवाद एवं नवजात पूँजीवाद का उन्मूलन ही साध्य बन जाता है ।[15] इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें कोई रचनात्मक पक्ष होता ही नहीं । साधन को ही साध्य मान लिया जाता है और उन मूल्यों की जिनपर समाजवाद आधारित है, अवहेलना होती है । द्वितीय खतरा यह है कि प्राय: आर्थिक-विकास को ही समाजवाद मान लिया जाता है । यह सत्य है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों का प्रथम कर्तव्य आर्थिक उन्नति है, किन्तु यह अन्तिम कर्तव्य नहीं है । जय प्रकाश जी की मान्यता है कि " इस उन्नति में कोई बुराई नहीं है । बुराई का आरम्भ तब होता है, जब कितने टन इस्पात और कितने किलोवाट बिजली के उत्पादन की वृद्धि को ही समाजवाद की सफलता का मापदण्ड मान लिया जाता है ।"[16] पुनश्च उन्होंने कहा है कि आर्थिक-विकास की तीव्रगति तो फासिस्टवाद के अन्तर्गत भी देखने को मिलती है और इसी को आधार मानकर उस राज्य एवं शासन की सफलता का आकलन किया जाता है । किन्तु अगर प्रगति एवं उसका पैमाना एकरूप हैं, तो वह समाजवाद फासिस्टवाद से किस प्रकार भिन्न कहा जायेगा? यहाँ भेद तभी हो पाता है, जब दोनों के साध्य मूल्यों का निरीक्षण किया जाय । समाजवाद को उन मूल्यों से अलग रखने पर इसका अवमूल्यन हो

जाता है, अतः मूल्य इसके लिये प्रधान है, अन्य साधन गौण । इसी कारण जयप्रकाश जी ने जिस समाजवाद की रूपरेखा तैयार की वह मूल्य-परक थी और उनके अनुसार एशियाई समाजवाद का उपर्युक्त दोषों से दूर रखने के लिए शान्ति, अहिंसा, प्रेम इत्यादि मूल्यों को उसमें जोड़ दिया जाय, जो समाजवाद के अवियोज्य अंग हैं । उन्होंने माना है, कि "समाजवाद एक जीवन-पद्धति है, एक मानसिक दृष्टिकोण है, एक नैतिक-आचरण है ।"[17] अतः यह तभी संभव है, जब इसे अन्तर्मन से स्वीकार किया जाय, क्योंकि यद्यपि नैतिक आचरण अनिवार्य अवश्य होता है, किन्तु इस अनिवार्यता का बलपूर्वक आरोपण नहीं किया जा सकता ।

मानव-स्वभाव के परिवर्तन के लिए गहन आन्दोलन की माँग वे लगातार करते रहे । किन्तु इस आन्दोलन के पीछे प्रेरक-शक्ति का होना आवश्यक है । वह गति-विज्ञान क्या है, जिससे प्रेरित होकर यह आन्दोलन चलताहै? इस प्रश्न के उत्तर में वे स्पष्ट रूप से निःस्वार्थभाव और त्याग का उल्लेख करते हैं । उन्होंने साम्यवादी गति-विज्ञान पर आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए कहा है कि " अब तक समाज-परिवर्तन का गति-विज्ञान स्वार्थों का संघर्ष रहा है । श्रम के हित को पूँजी के हित के विरोध में खड़ा किया जाता रहा है, और इसमें मध्यवर्गी हित अपने पक्ष का चुनाव, संघर्ष के प्रति अपने दृष्टिकोण के अनुसार करते रहे हैं । स्वार्थ से प्रेरित होकर श्रमिक एक भिन्न समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है, जहाँ यह माना जाता है कि उनका ... में स्वार्थपरता [illegible]

अन्तर्विरोध उपस्थित होता है । बोये पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय" यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है ।"[18]यहाँ जिस बुनियादी अन्तर्विरोध की चर्चा की गयी है, वह पूर्व चर्चित विरोध ही है । संघर्ष सदैव संघर्ष को जन्म देता है, हिंसा से हिंसा ही उत्पन्न होती है, स्वार्थ स्वार्थ का जनक है । इसी प्रकार शान्ति से शान्ति, अहिंसा से अहिंसा और त्याग से त्याग जन्म लेता है । इसलिए शान्ति, अहिंसा और त्याग को समाजवाद का मूलाधार मानने पर ही इसका आदर्श रूप प्रकट हो सकेगा ।

समाजवादी समाज को परिभाषित करते हुए जयप्रकाश जी ने कहा है कि " यह ऐसा समाज है, जिसके सदस्य समाज के बृहत्तर हित के लिए अपने व्यक्तिगत हित को बलिदान करने के लिए स्वेच्छया तैयार हों । यहाँ "स्वेच्छया" शब्द पर जोर दिया गया है ।"[19] स्वेच्छया अपने हित का बलिदान केवल वही व्यक्ति कर सकता है, जो संयम एवं त्याग के मूल्यों को जानता हो । आत्म -संयम की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है । सामाजिक सम्पदा का अधिकांश अपने लिये रख लेने की लालसा रखने वाले लोगों से कभी भी समाजवादी समाज की स्थापना नहीं हो सकती । अतः वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति में इन मूल्यों एवं आदर्शों को जीवन में उतारना संघर्ष की अपेक्षा अधिक सार्थक होगा । कोई भी समाज अधिक सम्पदा के उत्पादन मात्र से सुखी और शान्तिपूर्ण नहीं बन सकता । आवश्यकता उस सम्पदाके त्यागपूर्ण उपभोग की होती है । आज विज्ञानने मानव को वे सभी साधन प्रदानकिये हैं, जिनसे उत्पादन में वृद्धि हो सकती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि उत्पादन वृद्धि के साथ -साथ सुख-शान्ति की वृद्धि के स्थान पर दुःख एवं कलह

की वृद्धि हो रही है । इसका एकमात्र कारण यह है कि वैज्ञानिक प्रगति जिस गति से हुई है, उससे आधी गति से भी व्यक्ति की नैतिक-प्रगति नहीं हो सकी है । जब तक इन दोनों प्रगतियों को समान गति नहीं प्रदान की जायेगी, तब तक विश्वशान्ति की बात सोचना एक स्वप्न जैसा ही है ।

समाजवाद की स्थापना के लिए केवल समान वितरण भी पर्याप्त नहीं है । ऐसा समझना गलत है कि धनिकों से सम्पत्ति छीनकर गरीबों में बाँट देने मात्र से समाजवाद की स्थापना हो जाती है । वास्तव में समाजवाद एक जीवन-दर्शन है । इसे सही रूप में तभी प्राप्त किया जा सकेगा, जब इस जीवन-दर्शन को समाज के सभी वर्ग समझकर स्वीकार कर लेते हैं । जयप्रकाश जी यह भी मानते हैं कि समाजवादी आदर्शों एवं मूल्यों में विश्वास करने वाले लोगों को चाहिए कि आज ही उन मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप जीना आरम्भ कर दें । [20] इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि केवल आदर्श को स्वीकार कर लेने अथवा उसका उपदेश देने से समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती । आवश्यकता इस बात की है, कि उन आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया जाय । समता, त्याग, अपरिग्रह आदि मूल्यों को जान लेना अथवा मान लेना ही पर्याप्त नहीं होता, इन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करनाअधिक आवश्यक होता है । इन व्यक्तिगत-मूल्यों का सामाजिक पहलू भी होता है, इसीलिये इनके अनुरूप व्यक्ति द्वारा किया गया आचरण समाज के रूप को भी प्रभावित एवं परिवर्तित करता है ।

वैज्ञानिक समाजवादी यह स्वीकार करते हैं कि समाजवाद, पूँजीवाद की प्रौढ़ावस्था के बाद का सामाजिक विकास है । इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता प्रतीत होता है, कि सामान्यतः सम्पूर्ण एशिया और विशेष रूप से भारत अभी समाजवाद के अनुरूप परिस्थितियों तक नहीं पहुँच सका है । अभी यह समाज कृषि प्रधान समुदाय मात्र है । औद्योगीकरण की दिशा में यहाँ पर्याप्त प्रगति अभी नहीं हो सकी है । इन्हीं परिस्थितियों में समाजवाद की स्थापना का प्रयास रूस और चीन जैसे देशों में हुआ है । किन्तु वहाँ समाजवाद के नाम पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, अधिनायकतंत्र की स्थापना, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण तथा औद्योगिक उत्पादन के विकास मात्र को समाजवाद के नाम से पुकारा जाने लगा है । यह सच्चा समाजवाद नहीं है । उसके लिए तो समता, स्वतंत्रता एवं विश्वबंधुत्व के सद्गुणों को विकसित करना पड़ेगा । अतः एशिया के समाजवादियों को सच्चे समाजवाद की स्थापना के लिए नये मार्गों की खोज करना ही पड़ेगा । गाँधी जी के भूदान, ग्रामदान, जीवनदान जैसे कार्यक्रमों को, जो त्याग एवं दान के मूल्यों पर आधारित हैं, इस दिशा में एक सद्प्रयास माना जा सकता है । विशेष रूप से भारतीय समाज में, जहाँ यज्ञ, दान, त्याग इत्यादि को व्यक्तिगत मूल्यों के रूप में आदिकाल से सामाजिक मान्यता प्राप्त रही है, यह विधि अधिक सफल रहेगी ।

जयप्रकाश जी मार्क्सवाद से अपने समाजवाद को क्रमशः दूर होते हुए देख रहे थे । अन्ततोगत्वा यह अलगाव पूर्ण रूप से हो गया । उन्होंनें इसका विवरण इस प्रकार दिया है-" राजनीति से तो नहीं, परन्तु मार्क्सवाद से मेरा अन्तिम विच्छेद पूना में मेरे तीन सप्ताह के उपवास की अवधि में हुआ । रूसी निष्कासनों से संशय की जो एक लम्बी प्रक्रिया मेरे अन्दर शुरू हुई थी, वह इस उपवास के समय समाप्त हुई और यह स्पष्ट हो गया कि भौतिकवाद एक दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में नैतिक-आचरण का कोई आधार नहीं बन सकता तथा अच्छाई के लिये कोई प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकता ।[21] जब जड़तत्व को प्रधान मान लिया जाता है और मानव-चेतना को उससे उत्पन्न अथवा गौण स्थान दिया जाता है, तब मानव के चेतन सामाजिक-व्यवहार को सुधारने की बात ही निरर्थक हो जाती है । अगर चेतना जड़ के द्वारा नियंत्रित है, तो मानव-व्यवहार प्रकृति से चालित होगा और ऐसी स्थिति में उसे सुधारने का उत्तरदायित्व मानव पर नहीं होगा । यह वह स्थिति होगी, जिसमें समस्त नैतिक एवं सामाजिक आदर्श व्यर्थ की बकवास बन जाते हैं । जयप्रकाश जी ने कहा है कि-"जीवन का आदर्श, नैतिकताका पालन और शान्तिपूर्ण सामाजिक-व्यवस्था परम्परा के रूप में मनुष्य को विरासत के रूप में मिलती है । पर कोई व्यक्ति प्रश्न करे, कि वह नैतिक आचरण क्यों करे ? तो भौतिकवाद इसका उत्तर नहीं दे सकता । कोई व्यक्ति त्यागपूर्ण जीवन क्यों जिए, इसका कोई उत्तर भौतिकवादी दर्शन नहीं दे सकता ।[22] मानवजीवन त्याग के बिना व्यर्थ है । वह जीने योग्य रह ही नहीं जाता । जयप्रकाश जी की मान्यता है, कि यदि भौतिकवादी त्याग कोमहत्व देता भी है, तो उसका कार्य उसके दर्शन के अनुकूल नहीं होगा । अतः त्याग के मूल्य को

खण्डन आवश्यक है ।

जयप्रकाश जी की मान्यता में यह नैतिक-जीवन राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्ष में बाधक नहीं, अपितु साधक है । सच्चा समाजवाद उत्पादन की वृद्धि से नहीं आता, बल्कि इसके साथ उपभोग का नियंत्रण और अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है । उन्होंने माना है कि "समाजवादी जीवन-पद्धति सामान्य प्रयास से उपलब्ध उत्कृष्ट वस्तुओं को मिलजुल कर बाँट लेने की पद्धति है ।"[23] इस पद्धति को जितने ही सहज ढंग से व्यवहार में लाया जायेगा, समाज उतना ही सुखी और समृद्ध होगा । यह केवल तभी संभव होगा जब हम अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना सीख लें । यह नैतिक-विकास के द्वारा ही संभव हो सकता है । इतना ही नहीं, समस्त मानवीय एवं सामाजिक समस्याओं को जयप्रकाश जी नैतिक समस्या स्वीकार करते थे । विज्ञान की सम्पूर्ण प्रगति को उत्पादनोन्मुख बनाकर आधुनिक समाज ने उसके सच्चे उद्देश्य को भुला दिया है । प्रगति के पीछे निहित प्रेरक शक्ति मानव- कल्याण की भावना ही होनी चाहिए । किन्तु आधुनिक युग में विज्ञान को विनाश की ओर मोड़ दिया गया है । इसे सीमित राष्ट्रीय हितों का साधन बनाया जा रहा है, यह इस महान शक्ति का दुरुपयोग है । लोकनायक ने कहा है," विज्ञान ने सारे जगत् को सिकोड़कर एक पड़ोस का रूप दे दिया है, परन्तु मनुष्य ने ऐसी सभ्यता की निर्माण किया है कि पड़ोसी भी अजनबी बन गये हैं ।"[24] यह विज्ञान का दुरुपयोग है । उसका वास्तविक उद्देश्य जन-सेवा तथा लोक-कल्याण है । विज्ञान का इस प्रकार अस्त्र शस्त्रों तथा भारी

औद्योगीकरण के निमित्त प्रयोग उसे पथभ्रष्ट बना रहा है तथा मानव समाज को भी गुमराह कर रहा है । छोटे समुदायों के हाथों आत्मरक्षा तथा स्वशासन सौंप देने तथा विज्ञान का बड़े पैमाने पर उन्हीं के कल्याण के लिये प्रयोग करना ही सर्वोदय का मार्ग है, और यही भावी युग के लिए उपयुक्त है । आत्म-विकास को व्यवहार में लाये बिना सच्चे समाजवाद की बात सोचना भी व्यर्थ है । असली समाजवाद तो समता, भ्रातृत्व, स्वतंत्रता, सौहार्द, त्याग आदि मूल्यों में निहित है । इन्हें छोड़कर जो समाजवादी होने का दावा करता है वह झूठा दावा करने वाला पाखण्डी है । जो व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को अपने बहुसंख्यक-पीड़ितों के हित में त्याग नहीं सकता, वह छद्म-समाजवादी वास्तव में घोर स्वार्थी हैं । समाजवाद की नींव त्याग, बलिदान निःस्वार्थ-सेवाभाव आदि सद्गुणों से बल प्राप्त करती है । इनके अभाव में तथाकथित समाजवादियों का झुण्ड समाजवाद की झूठी व्याख्या करके अपनी इसी व्याख्या के अनुरूप मिथ्याचार में लगा है, वह समाजवाद नहीं स्वार्थवाद का मार्ग है ।

जयप्रकाश जी सच्चे समाजवाद की तस्वीर खींचते समय दान की महिमा का भी वर्णन करते हैं । बिनोवा भावे द्वारा संचालित भूदान, ग्रामदान और जीवनदान जैसे कार्यक्रमों को वे समाजवाद की विधि के रूप में स्वीकार करते हैं । भूदान का अर्थ है भूमिहीनों के बीच भूमि का वितरण करना, ग्रामदान का अर्थ है भूमि का समुदायीकरण अर्थात् भूमि के व्यक्तिगत

स्वामित्व के स्थान पर सामुदायिक स्वामित्व की स्थापना । यह स्पष्ट है कि भूदान के अन्तर्गत सम्पूर्ण कृषि-क्रान्ति का बीज निहित है ।[25] जो कार्यमार्क्स ने भीषण नर-संहार के माध्यम से संभव माना, उसे वेदान्त के मूल्य त्याग एवं दान ने सहज ही कर दिखाया । न तो किसी सशक्त राजसत्ता की आवश्यकता पड़ी और नही किसी कठोर कानून की । इनके बिना भी सह-विभाजन, समता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की स्थापना को संभव बनादिया गया । यह शास्त्र-सम्मत एवं अनुकरणीय मार्ग है ।

विनोवा जी उपनिषदों [26] की शिक्षा तथा गाँधी के व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान आदि नये प्रत्ययों का प्रवर्तन करते हैं । इन्हीं के आधार पर उन्होंने सर्वोदय की कल्पना की, जो ऐसे समाज की तस्वीर है, जिसमें सब का उदय अभीष्ट है । सर्वोदयी क्रान्ति का वर्णन करते हुए दादा धर्माधिकारी ने कहा है-" सर्वोदय जिस क्रान्ति का प्रतिपादन करताहै, उसके लिए जीवन के मूल्यों में परिवर्तन करना होगा । उसके लिये हमें द्वैत से अद्वैत की ओर, भेद से अभेद की ओर बढ़ना पड़ेगा । "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" की अनुभूति करनी पड़ेगी । बाहरी भेदों से दृष्टि हटाकर भीतरी एकता की ओर मुड़ना पड़ेगा । प्राणिमात्र में, जगत् के कण-कण में, एक ही सत्ता के दर्शन करने होंगे ।"[27] सर्वोदय का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय मनीषियों, विशेष रूप से वेदान्ती दार्शनिकों द्वारा स्थापित अभेद और अद्वैत के आदर्शों पर आधारित है । सुदृढ़ और गहरी नींव होने के कारण

यह सिद्धान्त भारतीय समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

इन्हीं नये प्रत्ययों और इनसे उत्पन्न परिणामों को मिलाकर जयप्रकाश नारायण ने सामुदायिक-स्वामित्व और सामुदायिक स्वशासन के रूप में आदर्श समाज के संगठन द्वारा संपूर्ण-क्रान्ति की नयी कल्पना को जन्म दिया । यह कल्पना व्यवहार में तो आंशिक सफलता ही पा सकी, किन्तु सिद्धान्ततः यह आदर्श समाजवाद का चित्र उपस्थित करती है । " यह ऐसी क्रान्ति है, जो हिंसा से होने वाली क्रान्ति तथा कानून से आने वाली क्रान्ति दोनों ही से भिन्न है ।[28] हिंसा का अमानवीय और अनैतिक प्रभाव इस क्रान्ति पर नहीं दिखता । कानून का बन्धन और व्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन से भी यह मार्ग सुरक्षित है । समाज के हित के लिए व्यक्ति और उसके व्यक्तिगत गुण-अवगुण को समाप्त कर देना न केवल सामाजिक और नैतिक दृष्टि से अशुभ है, बल्कि यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी असंगत है । एक नियत मार्ग पर सम्पूर्ण मानवता को यंत्र बनाकर संचालित नहीं किया जा सकता। यह एक ओर तो नैतिक अशुभ है, दूसरी ओर यह मनोवैज्ञानिक असंभावना भी है । इस असंगति से बचने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व को, मानव की मानवता को, सुरक्षित रखकर ही समाज का हित देखा जा सकता है । दूसरे के लिए पहले को बलिदान कर देना अमानवीय कृत्य है, यह आत्मघाती सिद्धान्त है, क्योंकि दूसरा भी पहले से नितान्त भिन्न कोई सत्ता नहीं है । सूत और वस्त्र की भाँति एक दूसरा और दूसरा भी पहला ही है । सूत्र को तोड़-काट कर वस्त्र की रक्षा नहीं की

जा सकती और वस्त्र को जलाकर सूत को सुरक्षित नहीं रखा जासकता । अत: व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा मानव की मानवता का अपहरण करने वाले जितने भी समाजवादी सिद्धान्त हुए हैं, उनके विकल्प के रूप में जयप्रकाश जी का यह मार्ग अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

जयप्रकाश जी ने कहा है " किसी राष्ट्र का निर्माण, निर्माण कार्य में जनता की व्यापक भागीदारी के बिना असंभवहै । मैं इस कथन पर यथा-संभव अधिक से अधिक बल देना चाहूँगा, क्योंकि यही मेरी दृष्टि में इस देश की वर्तमान परिस्थिति का गूढ़ तत्व है ।"[29]अपने इस कथन में लोकनायक ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जनता के सहयोग और जागरण के बिना न तो सामाजिक क्रान्ति संभव है और न ही सच्चे समाजवाद की स्थापना । गाँधी और जयप्रकाश के इन विचारों से अलग हटकर स्वतंत्र भारत के निर्माताओं ने एक ऐसे भारत को रच डाला, जो समाजवाद से कोसों दूर है । आज भारतीय समाज की प्रमुख समस्या जन-जागरण ही है । इस पर जोर न देकर उत्पादन, औद्योगीकरण तथा इस प्रकार के अन्य तथाकथित समाजवाद के उपयोगी अंगों का विकास करके कम से कम भारत में यह अनुभव किया गया कि इनसे सच्चा समाजवाद नहीं आ सकता ।सच्चा समाजवाद जन-चेतना को जागृत करके ही लाया जा सकता है ।

राष्ट्र -निर्माण के नाम पर लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों का हनन

जयप्रकाश जी को असह्य था । उन्होंने कहा है, "यदि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए लोकतंत्र का दमन आवश्यक हो, तो उसे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कहना ही भ्रम है । राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में भौतिक एवं नैतिक पुनर्निर्माण दोनों निहित हैं । लोकतंत्र के दमन का अर्थ है -जनता की नैतिक गिरावट, जिसे किसी भी परिभाषा के मापदण्ड के अनुसार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।[30] यहाँ जयप्रकाश जी ने उन समस्त समाजवादी सिद्धान्तों का विरोध किया है, जो केवल भौतिक-विकास को सामाजिक विकास मानते हैं । मनुष्य और उसका समाज केवल भौतिकता पर आश्रित नहीं है ,उसकी मानसिक ,नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएं भी हैं, जिनकी पूर्ति भौतिक-विकास के द्वारा नहीं हो सकती । इनकी पूर्ति के लिए भौतिक-विकास के साथ मानव-व्यक्तित्व के अन्य पक्षों का विकास भी आवश्यक है । जयप्रकाश के समाजवाद का यह चित्र वैज्ञानिक समाजवाद के चित्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण है ।

सच्चा समाजवाद जन-जागरण के माध्यम से ही संभव है और जन-जागरण " महात्मा गाँधी की ओर वापस जाकर" ही किया जा सकता है, इसलिए आधुनिक भारत को जयप्रकाश का यह सुझाव है कि देश में सुख-समृद्धि तभी आ सकेगी जब जनता जागेगी और स्वयं राष्ट्रीय-विकास के कार्यों में बुद्धि, हृदय और हाथ लगायेगी । इस जन-जागरण का परिणाम निश्चित ही सर्वोदय होगा । यही सर्वोदय गाँधी, बिनोवा और जयप्रकाश का सपना रहा और अब तक दी गयी समाज-व्यवस्थाओं में सर्वाधिक व्यापक और सन्तोषजनक

भी यही है । सर्वोदय सबके उदय का मार्ग है । सर्व का अर्थ सम्पूर्ण समाज से है, इसमें समाज के किसी भी वर्ग को छोड़ा नही गया है । सत्य तो यह है कि विभिन्न वर्गों की बात करना ही गलत है । उदय का अर्थ व्यक्ति सापेक्ष अवश्य होगा, जिसके पास आर्थिक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन नहीं है, उसका उदय इन्हीं की प्राप्ति से होगा । जिसके पास ये साधन हैं उसका उदय-आध्यात्मिक उन्नति -भौतिक सम्पदा के त्याग से ही सम्भव है । इस प्रकार उदय विकास की एक निरन्तर प्रक्रिया है । यह सिद्धान्त सामाजिक उन्नति और समता के लिये सर्वोत्तम है ।

इस विवरण में स्पष्ट रूप से यह देखा गया है कि आधुनिक भारत के निर्माण में और समाजवादी समाज की स्थापना में वेदान्त के मूल्यों का बहुत बड़ा योगदान है । महात्मा गांधी, बिनोवा भावे और जयप्रकाश नारायण के विचारों की चर्चा करते हुए यह पाया गया कि उनके विचार वेदान्त के मूल्यों से प्रभावित थे । अनेक बार तो उन मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके उनको सामाजिक मूल्य के रूप में स्थापित करने काप्रयास इन विचारकों नेकिया है । वेदान्त दर्शन में त्याग,दान, अपरिग्रह आदि प्रत्ययों का वर्णन वैयक्तिक मूल्य के रूप में आता है और इनके माध्यम से व्यक्ति की मुक्ति की बात कही गयी है । इन विचारकों ने इन्हीं मूल्यों को सामाजिक अर्थ में प्रयुक्त करके सामाजिक-मुक्ति के प्रत्यय का विकास किया है । सत्य ही है,

व्यक्ति, समाज से अलग नहीं हो सकता । जो कुछ व्यक्ति के लिए हितकर है, उसे समाज के लिये भी उपयोगी होनाचाहिए, और जो भी समाज के लिए अनुपयोगी है, वह व्यक्ति का हित नहीं कर सकता । वह मात्र व्यक्ति का हित करता हुआ प्रतीत होता है । अतः इन प्रत्ययों का व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार से मूल्यवान होना स्वाभाविक ही है ।

1- जयप्रकाश नारायण, समाजवाद सर्वोदय और लोकतंत्र, अनु0सच्चिदानन्द, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1973, भूमिका, पृ0 9

2- वही, भूमिका, पृ0 12

3- वही, भूमिका, पृ0 13

4- वही, पृ0 128

5- वही, पृ0 128

6- वही, पृ0 90

7- वही, पृ0 123

8- वही, पृ0132

9- वही, पृ0 132

10- द्रष्टव्य- वही, पृ0 134

11- वही, पृ0 134

12- वही, पृ0 134

13- वही, पृ0 143

14- वही, पृ0 149

15- द्रष्टव्य- वही, पृ0 149

16- वही, पृ0 150

17- वही, पृ0 151

18- वही, पृ0 151

19- वही, पृ0 151

20- द्रष्टव्य- वही, पृ0 153

21- वही, पृ0 172

22- वही, पृ0 172

23- वही, पृ0 176

24- वही, पृ0 183

25- वही, पृ0 189

26- ईशावास्यमिदंसर्वं यद् किंचजगत्यां जगद् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

ईशावास्योपनिषद् - 1/1

27- दादा धर्माधिकारी-सर्वोदयदर्शन, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, सातवाँ संस्करण, 1983, आमुख पृ0 14-15

28- जयप्रकाश नारायण, उपरिउद्धृत ग्रन्थ पृ0 192

29- वही, पृ0 202

30- वही, पृ0 203

डा० राम मनोहर लोहिया

डा० राम मनोहर लोहिया आधुनिक भारत के प्रमुख समाजवादी विचारक थे । उनका विचार निष्क्रिय सिद्धान्त के रूप में नहीं अपितु सक्रिय राजनीतिक विचार धारा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुतहोता है । कल्पना के द्वारा कोई सिद्धान्त निर्मित करके उसे समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर देना विचार से अधिक कुछ नहीं है । वास्तविक सत्ता केवल उन विचारों की होती है जिनका आचरण करके लोक कल्याण के मार्ग पर चल सके । डा० लोहिया के सामाजिक विचार भी इसी कोटि में आते हैं ।

डा० लोहिया मौलिक विचारक थे । समाजवाद के जिस रूप की स्थापना उन्होंने की वह एक मौलिक विचारधारा थी । कुछ लोगों की मान्यता है कि उन्होंने पाश्चात्य समाजवादी विचारों को भारतीय परिवेश में ढालने का प्रयत्न किया है और इसलिए उनके विचार मौलिक नहीं कहे जा सके ।[1] इस सन्दर्भ में प्रो० संगमलाल पाण्डेय के विचार मेरी दृष्टि में समुचित प्रतीत होते हैं । उनकी मान्यताहै कि अगर डा० लोहिया को किसी पाश्चात्य समाजवादी विचारक से प्रभावित माना जाय तो वह विचारक कौन था । किन्तु ऐसा कोई भी विचारक नहीं दिखाई पड़ता जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव डा० लोहिया पर प्रकट हो । अतएव उन्हें समाजवाद की एक नई विधा का स्रष्टा मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है । डा० लोहिया के

समाजवाद को अन्य समाजवाद से भिन्न करने के लिए इसे लड़ाकू।जुझारू।
समाजवाद । मिलिटेन्ट सोशलिज्म। कहा जाता है ।[2]

समाजवादी विचारों का इतिहास इस बात को स्पष्ट कर देता है कि इसके अनेक रूप प्रचलित हुए , जो देशगत और कालगत परिस्थितियों के कारण जन्मे थे । समाजवाद की प्रमुख धारा आज मार्क्सवाद को माना जाता है । डॉ० लोहिया मार्क्सवाद से सहमत नहीं थे । मार्क्स और लेनिन के दर्शन का उन्होंने खण्डन किया है । दार्शनिक और राजनैतिक दोनों ही स्तरों पर वे इसके विरोधी थे ।

डा० लोहिया महात्मा गाँधी के सत्याग्रह सिद्धान्त को स्वीकार करते थे । प्रो० पाण्डेय ने कहा है-" इसका लड़ाकूपन इस बात में निहित है कि यह सत्याग्रह को एक शाश्वत अस्त्र मानता है, जिसके द्वारा अन्याय का विरोध किया जाना चाहिए ।"[3] यह अहिंसात्मक विरोध है । हिंसा को लोहिया जी अशुभ मानते थे । इसी कारण मार्क्स के वर्ग-संघर्ष एवं रक्तरंजित क्रान्ति के मार्ग की उन्होंने आलोचना की है ।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार लोहिया जी सत्याग्रह के अनुयायियों को दो वर्गों में बाँटते हैं- दक्षिणपंथी और वामपंथी ।[4] दक्षिण पंथी उन्हें कहा गया है जो संसदीय विधि से समाजवाद की स्थापनाके प्रति आस्था रखते

थे । उनकी मान्यता यह थी कि सत्याग्रह का संसदीय शासन-पद्धति से तालमेल नहीं बैठता अतः इसे त्यागदेना चाहिए । वामपंथी विचारक वे थे जिनके अनुसार सत्याग्रह शाश्वत अस्त्र है और इसकी उपयोगिता कभी समाप्त नहीं हो सकती । इनके अनुसार अन्याय का विरोध करने के लिए सत्याग्रह से अच्छा कोई साधन नहीं है । डॉ० लोहिया वामपंथी वर्ग के थे । इन्होंने सत्याग्रह को आजीवन अपनाए रखा ।

अन्याय को डॉ० लोहिया अनिवार्य अशुभ के रूप में स्वीकार करते थे । उनके विचारों की चर्चा करते हुए प्रो० पाण्डेय ने कहा है-" अन्याय का अन्त कभी भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह वास्तव में अनर्थ या अशुभ का पर्याय है, जो जगत् में शाश्वत है" ।[5] फिर भी इसे सीमित किया जा सकता है और इसे कम करने के लिए सत्याग्रह आवश्यक और अनिवार्य अस्त्र है । जगत् के अस्तित्व के लिए अशुभ की सत्ता अनिवार्य है । अशुभ तब तक रहेगा जब तक इसका कारण-विश्व-रहेगा । आदर्श समाज वही है जिसमें अल्पतम अशुभ हो । इसी की प्राप्ति के लिए निरन्तर सत्याग्रह का पालन आवश्यक है ।

डॉ० लोहिया ने जिस समाजवाद को स्वीकार किया है, वह व्यक्ति-वाद का विरोधी नहीं है । व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करने वाला सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था । यहाँ उनके विचार स्वामी रामतीर्थ के

विचारों के सदृश दिखाई पड़ते हैं, जिनकी चर्चा इस शोध-प्रबन्ध के पूर्व अध्याय में की जा चुकी है । मार्क्स के समाजवादी विचारों से उनका भेद यहाँ स्पष्ट है । प्रो० पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि " यदि शंकराचार्य ने हमें एक ऐसे संन्यासी का रूप दिया जो नर-रूप में नारायण है, तो डॉ० लोहिया ने हमें समाजवादी कार्यकर्ता का आदर्श दिया जो नर-रूप में राज्य तथा समाज है।"[6] व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को अपने अन्दर समेट लेता है, यही सामाजिक कार्यकर्ता का आदर्श स्वरूप है । कर्तव्यनिष्ठ सत्याग्रही का स्वरूप इतना विराट् होता है कि वह सम्पूर्ण समाज का स्वरूप बन जाता है ।

डा० लोहिया अभेदवादी थे । समस्त प्रकार के भेदों का निराकरण उनके चिन्तन में दिखाई पड़ता है । व्यक्ति और समाज के अभेद की चर्चा पूर्व पैरा में की गई । इसके अतिरिक्त दर्शन और राजनीति का अभेद, अमीर और गरीब का अभेद आदि इनके दर्शन को वास्तव में अभेदवाद बना देते हैं । नित्य-सत्य और क्षण-सत्य के अभेद की चर्चा करते हुए प्रो० पाण्डेय ने लिखा है" दर्शन का विषय नित्य सत्य है और राजनीति का विषय क्षण-सत्य । जो नित्यसत्य है वही क्षणसत्य है और जो क्षणसत्य है वही नित्यसत्य है । क्षणसत्य अर्थ-क्रियाकारी है और नित्य सत्य अपरोक्ष अनुभूति है । दूसरे शब्दों में, जब सत्य की उपलब्धि क्रिया-क्षेत्र में होती है तो वह क्षणसत्य हो जाता है, सृजनशीलता का पर्याय बन जाता है । फिर जब उसकी उपलब्धि ज्ञान क्षेत्र में होती है, तो वह नित्य सत्य हो जाता है, ब्रह्मानन्द का पर्याय बन जाता है।

मानव चेतना न तो कोरी ज्ञाननिष्ठ है और न तो क्रियानिष्ठ । उसमें ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय है । इसकारण उसके स्वरूप में क्षणसत्य एवं नित्यसत्य दोनों का समावेश है । इस दृष्टि से देखने पर डॉ० लोहिया का अभेदवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से अधिक कट्टर अद्वैतवाद है ।·7

इस विवरण में यह स्पष्ट है कि अभेदवाद का आदर्श किसी न किसी अंश में अद्वैतवाद की अनुकृति है । वेदान्त के शुद्ध तत्वमीमांसीय आदर्श को समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त करने का इससे सुन्दर उदाहरण शायद ही कहीं उपलब्ध हो सके । डॉ० लोहिया केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वे पहले दार्शनिक थे और बाद में राजनीतिज्ञ । उनके अभेदवाद के आदर्श को शंकराचार्य के अद्वैतवाद की तुलना में उच्चतर भले ही न कहा जा सके, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि यह सिद्धान्त वेदान्त के पारमार्थिक आदर्श को समाज में मूर्तरूप देने का एक सराहनीय प्रयास है । इससे एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यह मान्यता नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि वेदान्त (अद्वैत) दर्शन जगत् -जीवन निषेधक है, और उसके द्वारा स्थापित आदर्श केवल परमार्थ तक ही सीमित हैं ।

डॉ० लोहिया के दार्शनिक विचार कोरे विचार नहीं थे । उन्होंने सदैव विचारों को सिद्धान्त के आधार पर किसी नीति के माध्यम से किसी न किसी कार्यक्रम से जोड़कर रखा । जिस विचार को कार्यक्रम के रूप में ढाला

न जा सके वह विचार उनके लिए त्याज्य है । यही कारण है कि वे मानते थे कि दर्शन और राजनीति में अभेद का संबंध होता है । विचार को कार्य रूप में परिणत करना ही संघर्ष है । प्रो० पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि " वे जीवन भर संघर्ष करते हुए चिन्तन करते थे । इसी लिए उनका दर्शन संघर्ष का दर्शन है ।"[8] विचार, दर्शन से और कार्य, राजनीति से संबंधित हैं । विचार और कार्य का अभेद व्यक्ति को सच्चा समाजवादी बनाता है । मनसा-वाचा-कर्मणा एक होना व्यक्ति का आदर्श स्वरूप है । इसी आदर्श स्वरूप को डॉ० लोहिया ने स्थापित करने का प्रयत्न किया ।

डॉ० लोहिया के विचारों और कार्य-पद्धति पर अद्वैत वेदान्त दर्शन का गहरा प्रभाव था । इसकी जानकारी उनके ग्रन्थ" ह्वील आव हिस्ट्री" के अवलोकन से होती है । आत्मज्ञान का महत्व बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि "जब मनुष्य अपने को जान जाता है, चाहे जब वह अपने को जाने, तब समग्र से पृथक् होने पर वह दु:खी होता है और इसके साथ उसे अपने आत्मज्ञान पर एक आनन्दबोध होता है और तब वह सोचना शुरू करता है कि वह कैसे समग्र से अपने को संयुक्त करे । इस प्रकार प्रयोजनों की खोज शुरू होती है ।"[9] निश्चय ही यहाँ आत्मज्ञान का स्वरूप और उसकी विधि अद्वैत वेदान्त के आत्मज्ञान के स्वरूप एवं विधि से भिन्न है । यहाँ समाधिस्थ होकर आत्मज्ञान नहीं होता । फिर भी अपरोक्ष अनुभूति को डॉ० लोहिया स्वीकार करते हैं, और

अपरोक्षानुभूति के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान को समाधि के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान से नितान्त भिन्न नहीं कहा जा सकता । आत्मबोध को समग्रता के रूप में देखना- "आत्मवत् सर्व भूतेषु"," अयमात्मा ब्रह्म" तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के आदर्शों के अत्यन्त निकट है । आत्मबोध का अर्थ सर्वात्मबोध है । आत्मा सीमित, संकुचित, स्वार्थी द्रव्य का नाम नहीं है । वह तो सार्वजनिक, सर्वव्यापी, समष्टिगत सत्ता है, इस रूप में उसका ज्ञान प्राप्त करना वेदान्त और समाजवाद दोनों का लक्ष्य है ।

1- द्रष्टव्य- प्रो० संगमलाल पाण्डेय, समाज धर्म और राजनीति, डा० लोहिया का अभेदवाद, दर्शनपीठ, इलाहाबाद , 1981, पृ०65

2- वही, पृ० 65

3- वही, पृ० 65-66

4- द्रष्टव्य- वही, पृ० 66

5- वही, पृ० 66

6- वही, पृ० 69

7- वही, पृ० 68

8- वही, पृ० 67

9- डा० राम मनोहर लोहिया, ह्वील आव हिस्ट्री, पृ० 3

डॉ० सम्पूर्णानन्द

डॉ० सम्पूर्णानन्द वेदान्त दर्शन के आधुनिक अनुशीलनकर्ताओं में अग्रणी हैं । उन्होंने इस परम्परागत विचारधारा को नये रूपों में प्रस्तुत किया है । उनके विचारों में अद्वैत वेदान्त के सामाजिक पक्ष की उद्भावना अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ" समाजवाद" में उन्होंने वेदान्त दर्शन सम्मत समाजवादी विचारों का निरूपण किया है । सामान्यतया यह स्वीकार कर लिया जाता है कि वेदान्त दर्शन परलोकवादी है और जगत् को मिथ्या मानता है, अतः उसका सहज विरोध उन सभी विचारों से है, जो लौकिक सत्ताओं को सत् मानकर दिये गये हैं । किन्तु सम्पूर्णानन्द जी की मान्यता इस सन्दर्भ में भिन्न है । अपनी पूर्वोक्त पुस्तक की भूमिका में उन्होंने कहा है, "दर्शन के ऐसे बहुत से विद्यार्थी हैं, जिनकी बुद्धियों पर बहुत पहले शांकर अद्वैतवाद की छाप लग चुकी है और मनन द्वारा अविलेप्य हो चुकी है । मैं स्वयं ऐसे ही लोगों में हूँ, पर ऐसा समझता हूँ कि द्वन्द्वन्याय और इतिहास की आर्थिक-व्याख्या का अद्वैतवाद से निसर्गतः विरोध नहीं है ।

दर्शन के स्वरूप एवं उद्देश्य के विषय में भी उनके विचार प्राचीन परम्परागत विचारों से भिन्न हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि " वह थोड़े से पण्डितों के वाग्युद्ध की सामग्री नहीं है । दर्शन जगत् को समझने और उसको

उन्नत बनाने का श्रेष्ठतम साधन है।"[2] उन्होंने यह भी कहा है कि "आज दार्शनिक को राजनीति और अर्थनीति, दण्डविधान और शिक्षा के संबंध में सम्मति देनी होगी और मार्ग दिखलाना होगा । यदि वह स्वतंत्र रूप से ऐसा नहीं कर सकता तो उसका दर्शन निकम्मा है।"[3] वे दर्शन के उस शुष्क रूप को अनुपयुक्त मानते हैं, जिसमें केवल तर्क और श्रुति के आधार पर वाग्विलास किया गया हो । तर्क और श्रुति का प्रयोग लोक-कल्याण और जगत् की उन्नति के लिए ही होना चाहिए ।

अद्वैत वेदान्त के स्वरूप का जो बोध सामान्यत: लोगों को है वह नासमझी का परिणाम है । ठीक-ठीक न समझने के कारण उसे अकर्मण्यता का दर्शन मान लिया गया है । इस विषय में डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि "दर्शन के स्वरूप को ठीक-ठीक न समझने का ही यह परिणाम हुआ कि वेदान्त [अद्वैत वेदान्त] का अर्थ "अकर्मण्यता" हो गया । गीता के भगवद्वाक्य होने का ढिंढोरा पीटने वाले उसमें प्रतिपादित नैष्कर्म्य को अकर्मण्यता समझते हैं । विदेहराज, राम और कृष्ण के कर्मठ जीवनों की कथा पढ़ते हैं, यह जानते हैं कि व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र, बुद्धदेव, महावीर, शंकराचार्य, कबीर, नानक आदि ने संसार को मिथ्या मानते हुए भी कर्ममय जीवन को अपनाया फिर भी, कर्म से भागना ही त्याग समझ लिया गया । इसलिए लोकसंग्रह-बुद्धि शिथिल पड़ गई है।"[4] उन्होंने लोकसंग्रह को समस्त दर्शनों का कार्य माना है । यद्यपि यह समस्त दर्शनों का कर्तव्य है, किन्तु वेदान्त परम्परा में और विशेषत: गीता में इसका स्पष्ट और सबल प्रतिपादन हुआ है ।

वेदान्त [अद्वैत वेदान्त] को परलोकवादी, अकर्मण्यतावादी, पलायनवादी समझना नासमझी है । वह तो लोक-संग्रह का दर्शन है । बन्धन वास्तव में स्वार्थ-पूर्ण कर्मों में है । श्रवण और मनन के साथ निदिध्यासन को आवश्यक मानकर वेदान्त सम्प्रदाय में यह स्वीकार किया गया है कि दर्शन कोरा बुद्धि-विलास नहीं है । वह जीने की विधि है, जो जीवन के एक ऐसे लक्ष्य की ओर संकेत करता है जो सुख और दुःख दोनों से परे और उच्च है । ऐसे लक्ष्य का पथिक व्यक्तिगत सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन हो, यह स्वाभाविक है । किन्तु इस उदासीनता का यह अर्थ नहीं है कि वह संसार [लोक] के प्रति उदासीन होगा । यह भ्रान्ति वेदान्त-दर्शन के प्रति सामान्य है कि वह लोक-व्यवहार का भी निषेधक है । सत्य तो यह है कि जीवनमुक्ति के पश्चात् भी लोकसंग्रह को अपरिहार्य माना गया है ।

डा० सम्पूर्णानन्द अद्वैतवाद के साथ सामाजिक कर्मों की सुसंगति को स्वीकार करते हैं । अपने हित से ऊपर उठकर सम्पूर्ण समाज-समष्टि के लिए जो कुछ भी किया जाता है, वह लोकसंग्रह है । उन्होंने कहा है कि " कितना भी उन्नत समाज हो, उसको अधिक उन्नत बनाया जा सकता है । इस काम में सबके लिये स्थान है । सबकी शक्ति और योग्यता एक सी नहीं होती । कोई एक ही रोगी की सेवा कर सकता है, कोई एक ही अशिक्षित को पढ़ा सकता है, कोई देश का शासन कर सकता है, कोई पुस्तक लिख सकता है, कोई प्रवचन द्वारा लोगों की बुद्धि का संस्कार कर सकता है । समाज को इन सब लोगों की आवश्यकता है । इनमें से प्रत्येक का

समाज को सुखमय और पुष्ट बनाता है । इस प्रकार के कामों को लोक-ससंग्रह कहते हैं।"[5] उनके विचारों पर समाजवाद की गहरी छाप दिखाई पड़ती है । समाज और उसका हित सर्वोपरि है । व्यक्ति का कर्तव्य उसको सिद्ध करना है । व्यक्ति साधन है और लोक-संग्रह के द्वारा ही वह साध्य को सिद्ध कर सकता है । किन्तु यहाँ साधन और साध्य का नितान्त भेद नहीं किया गया है । साधन स्वयं साध्य में ही सन्निहित है । समाज के हित में व्यक्ति का हित स्वयं समाहित होता है । इसी आशय को व्यक्त करते हुए उन्होंने आगे कहा है कि " पूर्णतया शुद्ध तो अभेदभाव है, परन्तु वह सुकर नहीं है, फिर भी अपने कामों में जितना ही अभेदभाव लाया जा सकेगा उतना ही काम धर्म कहलाने के योग्य होगा । जो धर्म का आचरण करना चाहता है उसको अपने विषय में सतर्क रहना चाहिए । बराबर इस बात पर दृष्टि रहनी चाहिए कि अपने स्वार्थ अपने लाभ का विचार न आने पाये । कर्म का पात्र जितना ही विशाल होता है, बुद्धि में उतनी ही निष्कामता लायी जा सकती है । एक की अपेक्षा कुटुम्ब, कुटुम्ब की अपेक्षा वर्ग, वर्ग की अपेक्षा राष्ट्र, राष्ट्र की अपेक्षा मानव-समाज, मानव-समाज की अपेक्षा विराट् अर्थात् प्राणि मात्र की समष्टि विशाल है । छोटे की सेवा भी होगी परन्तु बड़े की सेवा के साधन के रूप में । "[6]

उनके विचारों में अल्पतर को बृहत्तर का साधन माना गया है । समाजवाद की सीमा को पार करके वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और प्राणिमात्र

को अपने विचारों की परिधि में बाँधते हैं । मानव समाज ही परम-साध्य नहीं है । वह भी उच्चतर का साधन बनता है । प्राणिमात्र की समष्टि उसका भी साध्य है । व्यक्ति के कर्म का प्रभाव कैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर पड़ता है इसका एक चित्र इन विचारों में प्रकट होता है । व्यष्टि से समष्टि तक की अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनसे होकर बुद्धि को पूर्ण निष्काम-कर्म के स्तर तक लगाया जा सकता है । यही सच्चा समाजवाद है, यही सच्चा अद्वैत-दर्शन है । इस स्तर तक पहुंचने पर तो समता भी काफी निचले स्तर की चीज दिखाई पड़ती है । जहाँ अभेद और अद्वैत को आदर्श मानकर निष्काम कर्म किया जा रहा हो, वहाँ व्यक्ति की सामाजिक समता काफी नीचे छूट जाती है । निष्काम कर्म का लाभ केवल समष्टि को ही नहीं मिलता । इनसे कर्ता का भी उतना ही लाभ होता है । चित्त शुद्धि इसका प्रकट एवं प्रमुख लाभ है जो कर्ता को प्राप्त होता है । इस विधि से जो प्रमुख साध्य सिद्ध होता है, वह लोक संग्रह है । व्यक्ति के आचारण को ऐक्यमूलक होना चाहिए । स्वार्थमूलक आचरण समाज के लिये विघटन का कारण बनता है । सकाम कर्म स्वार्थमूलक होते हैं । इनके द्वारा कर्ता का बन्धन और समाज का अहित होता है । डॉ० सम्पूर्णानन्द का मत है कि " जिन बातों से लोगों की बुद्धि अपने-अपने स्वार्थ अर्थात् अपने-अपने अर्थ और काम पर केन्द्रीभूत होती है, जो बातें लोगों की बुद्धि को खींचकर अपने-अपने सुखों पर लाकर जमा देती हैं, जो बातें जीव-जीव के पार्थक्य को प्रोत्साहित करती है, वे ऐक्यवर्धक नहीं हो सकतीं । उनके आधार पर यदि कुछ एकता आ भी जायेगी तो वह थोड़ी

देर तक टिकेगी और समुदाय विशेषतक सीमित रहेगी ।"[7] स्वार्थपरक आचरण की आलोचना करते हुए उन्होंने पुनश्च यह कहा है कि "हमारे जीवन का आधार हो रहा है अपना-अपना स्वार्थ । जब तक स्वार्थ नहीं टकराते तब तक हम मनुष्य है, नहीं तो पशु बन जाते हैं ।"[8] इस अव्यवस्था से दूर रहने का मार्ग लोक-संग्रह और निष्कामकर्म है । समाजवाद का सच्चा अर्थ लोक-संग्रह है ।

डॉ० सम्पूर्णानन्द वर्ग-संघर्ष को सामाजिक विकास की प्राकृतिक विधि मानते हैं । इस सन्दर्भ में मार्क्स के साथ उनकी पूर्ण समानता दिखाई पड़ती है । समाजवाद के जन्म से पूर्व वर्ग-संघर्ष का जन्म हो चुका था । यह संघर्ष समाज की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हुआ है । समस्त सामाजिक द्वन्द्वों का कारण वर्ग-संघर्ष ही है । उन्होंने कहा है कि " यदि वर्ग-संघर्ष मिटाना है तो वर्गों को ही मिटा दो । इसके लिए किसी वर्ग के लोगों को मार डालने की आवश्यकता नहीं है । चाहिए यह कि उत्पादन की सारी सामग्री समाज की हो जाय । ऐसा होने पर कोई व्यक्ति पूंजी पैदा कर ही न सकेगा । यदि ऐसा हो गया तो कोई व्यक्ति किसी का शोषण करेगा ही नहीं । न कोई शोषक होगा , न कोई शोषित । जब विरोधी वर्ग ही न होंगे तो संघर्ष किससे होगा । सब लोग एक वर्ग-श्रमिक -मजदूर वर्ग के होंगे । "[9]

उपर्युक्त विचारों में संघर्ष को प्राकृतिक और सहज कहा गया है । यह केवल सामाजिक द्वन्द्व का ही कारण नहीं है, अपितु इसी से समाज का

विकास भी संभव होता है । किन्तु वर्गों को समाप्त करने पर संघर्ष समाप्त हो जाएगा और संघर्ष के समाप्त होने पर समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जायेगा । अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सामाजिक विकास को रोकना उचित है? अथवा समाज के विकास के लिए कोई और गति-सिद्धान्त है, जो वर्ग और वर्ग-संघर्ष की समाप्ति के बाद भी उसे गतिशील बनाए रखता है? ऐसे किसी भी वैकल्पिक गति-सिद्धान्त का उल्लेख समाजवादी इतिहास में नहीं मिलता । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्गहीन समाज की कल्पना आत्मघाती है । यह एक अपूर्ण सामाजिक सिद्धान्त है जो विकास की एक विशिष्ट स्थिति के परे स्वयं ही समाप्त हो जाती है । वर्ग-संघर्ष अगर समाज के साथ ही उत्पन्न हुआ है, सहज है, तब न तो इसके लिए किसी प्रयास की आवश्यकता है और न ही इसे रोकना संभव है।यह तब तक रहेगा, जबतक समाज रहेगा । इसकी समाप्ति का अर्थ होगा समाज की समाप्ति । वर्गहीन समाज को पारस्परिक सहयोग, भ्रातृत्व की भावना, त्याग का आदर्श और निष्काम-कर्म का आदर्श गतिशील बना सकता है । किन्तु ये मूल्य समाजवादी परम्परा और विशेषतः मार्क्सवादी परम्परा में नहीं दिखाई पड़ते । ये मूल्य वेदान्त दर्शन की सहायता से प्राप्त हो सकते हैं । डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि " आज हम विश्व-संस्कृति और विश्वसभ्यता की ओर बढ़ रहे हैं । इसलिए ऐसे सभी महापुरुषों का ऋण स्वीकार करना चाहिए । इस ऋण का परिशोध इतना ही है कि जो दीपक उन लोगों ने जलाया था, वह बुझने न पाये । उन्होंने मनुष्य को पशुओं से ऊपर उठाया

ऐसा न हो कि हम उसे फिर पशुओं में गिरा दें । हमारा कर्तव्य है कि मनुष्य में भ्रातृभाव , ऐक्य, संस्कृति और सभ्यता का विस्तार करें । "10 मनुष्य के आचरण को पशुओं के आचरण से भिन्न करने वाला तत्त्व बुद्धि, विवेकशीलता है । विवेकशील मनुष्य ही परोपकार, लोकसंग्रह और निष्काम कर्म जैसे आदर्शों का पालन करने में समर्थ है ।

सामाजिक समता के निमित्त बनाए गए अन्य सिद्धान्तों की उन्होंने आलोचना की है । महात्मागांधी के न्यासी सिद्धान्त पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि" पहली बात तो यह है कि श्रुति मधुर होने पर भी इस पर चलने को कोई तैयार नहीं है । दूसरे अभिभावक वाला सिद्धान्त इस पर घटित नहीं होता । अभिभावक उसी समय तक काम करता है, जब तक जायदाद का स्वामी अपनी सम्पत्ति संभाल नहीं सकता । पर यहाँ (न्यास-सिद्धान्त में) तो धनिक वर्ग (अभिभावक) ही धन को खर्च करेगा, जिन लोगों की थाती वह धन है उनके हाथ में कभी नहीं आने वाला है । 11 न्यासी सिद्धान्त अनेक गुणों से युक्त होने पर भी व्यावहारिक समाज-दर्शन रूप में असफल है । धार्मिक उपदेश भी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में समर्थ नहीं हैं । आज धार्मिक मान्यताओं का प्रभाव समाज पर से समाप्त हो चला है । इसके कारण अनेक हैं , किन्तु प्रमुख कारण वैज्ञानिक-प्रगति ही है, जिसने अधिकांश धार्मिक मान्यताओं को खोखलासिद्ध कर दिया है । डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने कहाहै कि " प्रायः सभी सम्प्रदायों और धर्माचार्यों ने किसी न किसी रूप में इसी (सन्तोष, आत्मसंयम) का प्रतिपादन किया है, पर यह अपर्याप्त है । इस उपाय से आध्यात्मिक उन्नति भले ही होती हो, वैषम्य-जनित

कटुता कुछ घट जाती हो, संघर्ष की संभावना कम हो जाती हो, पर मूल समस्या, जिसको देखकर हमारे प्रश्न उठे थे, ज्यों की त्यों रहती है । धनी और निर्धन का भेद बना रहता है, धन और अधिकार के लिए प्रतियोगिता बनी रहती है ।"[12] इस कारण धार्मिक उपदेशों और मान्यताओं के इस दीर्घ-काल का प्रभाव भी समाज पर से उठ चुका है ।

इस सन्दर्भ में तीसरा विकल्प वर्णाश्रम व्यवस्था को माना गया है । मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को आधार बनाकरइस व्यवस्था का अनुशीलन और वर्तमान युग में इसकी उपयोगिता एवं औचित्य का विवेचन डॉ० भगवानदास जी ने किया है ।उनके ग्रन्थ" ऐन्शयेन्टवर्सस मार्डन साइन्टिफिक सोशलिज्म" में इसका निरूपण किया गया है कि वर्तमान युग में न केवल भारतवर्ष अपितु सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं का समाधान वर्णाश्रमव्यवस्था के आधार पर संभव है ।"[13] डा० सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि " वर्णाश्रम को लेकर दो प्रकार के मत प्रचलित हैं । एक तो यह कि श्रुति स्मृतियों में जो कुछ कहा गया है वह अक्षरशः सत्य है । दूसरा यह कि श्रुति स्मृति वाक्य पूर्णतः गलत है । ये दोनों ही मत एकांगी हैं । तीसरा मत यह मिलता है कि वर्णाश्रम धर्म जिन मनोवैज्ञानिक आधारों पर अवलम्बित है, वह नित्य हैं । अतः इस धर्म के मूल सिद्धान्त नित्य एवं अटल हैं । परन्तु देश-काल के अनुसार इन सिद्धान्तों की व्याख्या और व्यावहारिक रूपों में हेर-फेर करना आवश्यक है । यदि बुद्धि से काम किया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म हमारी सारी समस्याओं को सुलझा सकता है ।"[14] यह तीसरा विकल्प अधिक तार्किक और युक्ति-संगत है ।

वर्णाश्रम व्यवस्था में सम्पूर्ण शक्ति को एक ही वर्ग में सन्निहित न मानकर उसे सम्पूर्ण समाज में विकेन्द्रित किया गया है । इस विकेन्द्रीकरण से शोषण की संभावना कम हो जाती है । डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार इस व्यवस्था में " एक वर्ण के हाथों बौद्धिक शक्ति, दूसरे के हाथों राजनैतिक शक्ति और तीसरे के हाथों आर्थिक शक्ति देकर इस व्यवस्था में जहाँ एक ओर अच्छाई का आधान किया गया है, वहीं दूसरी ओर एक बहुत बड़ी कमी भी झलकती है कि चौथे के हाथों किसी भी प्रकार की शक्ति न देकर सामाजिक समता और न्याय का हनन किया गयाहै । किन्तु यह विभाजन कृत्रिम नहीं था, मनुष्य की सहज- प्रवृत्तियों को देखकर किया गया था । इसीलिए यद्यपि आज इसका थोड़ा बहुत पालन केवल भारत में ही हो रहा है, पर धर्माचार्यों के अनुसार मनुष्य मात्र प्रकृत्याचार वर्णों में विभक्त हैं ।"[15] योग्यता और क्षमता के अनुसार मानव-मात्र में इस प्रकार के सहज भेद दिखाई पड़ते हैं । इसी विभाजनके आधार को गीता में "गुण-कर्म विभागशः" कहा गया है । गुण का अर्थ योग्यता है और पूर्व-जन्मार्जित संस्कारों से व्यक्ति की क्षमता का निर्धारण होताहै । अतः इस आधार पर समाज का विभाजन सहज और स्वाभाविक है, इसे चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने सभी समाजों में मान्यता प्राप्त है ।

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने समाज के चार वर्णों के क्रम का वर्णन करते समय सर्वप्रथम शूद्र वर्ण को रखा है । यह उनकी वर्णन शैली की विशेषता है कि

सामान्यतः जिसे सबसे अन्त में रखा जाता है, उसे उन्होंने प्रथम माना है । उनका कथन है कि शूद्र वर्ण के लोग अपरिपक्व होते हैं, जिन्हें परिपक्व लोगों के साथ रहकर उनकी सेवा करके, सभ्य और संस्कृत बनना श्रेय है । सेवा के माध्यम से इनका संसर्ग विकसित और परिपक्व लोगों से होता है और इस प्रकार वे स्वयं को विकसित और परिपक्व बनाते हैं । दूसरा वर्ण वैश्य वर्ण है, जिसका कर्तव्य समाज को सम्पन्न बनाना है । सम्पत्ति को वैश्यवर्ण का केवल अधिकार ही नहीं माना गया है, अपितु इसके साथ उसके कर्तव्य भी जुड़े हैं । तीसरा वर्ण क्षत्रिय है । " क्षताद् त्रायते इति क्षत्रियः" जो समाज की रक्षा करता है, क्षति से बचाता है, वह क्षत्रिय है । यहाँ शासन केवल राज-नैतिक अधिकार की ही सृष्टि नहीं करता, अपितु रक्षा के कर्तव्य को प्रधान मानता है । चौथा वर्ण ब्राह्मण है । यह तपोनिष्ठ, शास्त्र के ज्ञाता, और समाज के शिक्षकों का वर्ग है । ब्राह्मण का कर्तव्य समाज को धर्म के मार्ग पर रखना है । उसे सर्वाधिक प्रतिष्ठा केवल इसलिए प्राप्त थी कि वह शक्ति एवं सम्पत्ति से दूर रहता था । राजशक्ति और वैभव शक्ति से रहित होकर भी ब्राह्मण अपने तपोमय जीवन से समाज को नियंत्रित करता था । डॉ० सम्पूर्णानन्द ने स्पष्ट कहा है कि " सिद्धान्त की दृष्टि से वर्णों में उतना ही ऊँचा-नीचापन है, जितना शरीर के अवयवों में । शरीर के लिये सभी अवयव आवश्यक हैं ।"[16] किसी एक अवयव को दूसरे अवयव का स्थान नहीं मिल सकता । शिरपैर का और पैर शिर का कार्य नहीं कर सकता । हाथ का काम आँख से और आँख का काम हाथ से नहीं हो सकता । इसी प्रकार समाज के एक अवयव-वर्ण का

स्थान दूसरा अवयव वर्ण नहीं ले सकता । ब्राह्मण का कर्तव्य क्षत्रिय, वैश्य शूद्र आदि नहीं पूरा कर सकते । इसी प्रकार अन्य वर्णों की भी स्थिति है । कोई भी वर्ण दूसरे का स्थान नहीं ले सकता । यही सभी वर्णों का औचित्य है । वर्ण-व्यवस्था को डॉ0 सम्पूर्णानन्द जन्म पर आधारित नहीं स्वीकार करते । इसका जो वर्णन पूर्व-पृष्ठों में हुआ है, वह वर्ण के सहज विभाजन को स्वभाव के आधार पर स्वीकार करके सामाजिक-कर्तव्य को सर्वाधिक महत्व देता है । क्षमता और योग्यता की बात तभी सिद्ध होती है, जब इस व्यवस्था को कर्म पर आधारित माना जाय । इस प्रकार वर्ण -व्यवस्था के भी तीन रूप दिखाई पड़ते हैं । प्रथम जन्म के आधार पर दी गई व्यवस्था, द्वितीय कर्म के आधार पर दी गई व्यवस्था, और तृतीय जन्म और कर्म पर संयुक्त रूप से दी गई व्यवस्था । प्रथम रूप में यह व्यवस्था अनेक दोषों से युक्त है, क्योंकि इसमें व्यक्ति के गुण-कर्म को कुछ भी महत्व नहीं दिया गया है । गुण-कर्म, स्वभाव और क्षमता ही वर्ण-विभाजन के प्राकृतिक आधार हैं, अतः जन्म को पर्याप्त आधार नहीं कहा जा सकता । द्वितीय रूप में यह व्यवस्था गुण, कर्म, क्षमता आदि को तो महत्व देती है, किन्तु स्वभाव और क्षमता को जन्म से नितान्त असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता । व्यक्ति के कुलगत गुण-दोषों के परम्परागत रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचने का सिद्धान्त विज्ञान भी आज स्वीकार करता है । अतएव व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक क्षमता उसके जन्म से भी सामान्यतः आँकी जाती है । अपवादों का निराकरण नहीं किया जा सकता । कुछ ऐसे भी हुए हैं जो कुलगत गुण-कर्म और क्षमता के सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर देते हैं । किन्तु नियम का खण्डन अपवाद से

नहीं होता । अतः जन्म को पूर्णरूपेण नकारा नहीं जा सकता ।

तृतीय स्थिति सबसे अधिक व्यापक और निर्दोष है । जन्म और कर्म दोनों को वर्ण-व्यवस्था का आधार बनाने पर निर्दोष विभाजन संभव है । इन तीनों स्थितियों को उत्तम, मध्यम और अधम की श्रेणी में रखा जा सकता है । जन्म और कर्म का संयुक्त आधार उत्तम है, कर्म का आधार मध्यम है और जन्म का आधार अधम कोटि का है । जन्म मात्र के आधार पर किसी व्यक्ति के वर्ण को मनु ने भी निन्दनीय मानाहै । वर्तमानयुग में वर्ण-व्यवस्था का रूप अत्यन्तविकृत हो चुका है । यह व्यवस्था अपनी शक्ति खो चुकी है । इस खोयी हुई शक्ति को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है । वर्तमान रूप में यह समाज के नियंत्रण में असमर्थ है । डॉ० सम्पूर्णानन्द इस व्यवस्था पर अपनी टिप्पणी इस प्रकार देते हैं-" सच बात यह है कि किसी भी समय में धनोपार्जन का मुख्य साधन जिस वर्ण के हाथ में होगा वही प्रमुख समुदाय होगा । उसका नाम और काम कुछ भी हो वास्तविक अधिकार की डोर उसके ही हाथ में रहेगी । पहले यह स्थान क्षत्रियों को प्राप्त था, आज वैश्यों को प्राप्त है । आज का सत्ताधारी समुदाय अर्थात् पूँजीवाला समुदाय पहले के क्षत्रियों से अधिक बलवान है, क्योंकि लाखों की जीविका उसके हाथों में है । विद्वत्समुदाय को दूसरों के आश्रित रहकर ही काम करना पड़ेगा और उनमें वह पहले जैसी स्वतंत्रता नहीं हो सकती, कम से कम मजहब उनकी मदद नहीं कर सकता"।[17] उनकी यह टिप्पणी वर्ण-व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप के

लिए सत्य है । जिन तीन रूपों में यह व्यवस्था पूर्व पृष्ठों में देखी गई, उनके दो रूपों पर यह टिप्पणी सही उतरती है । केवल जन्म के आधार पर ब्राह्मण या क्षत्रिय बनने का दावा करने वाले आश्रित ही रहेंगे । केवल कर्म के द्वारा किसी वर्ण का सदस्य बनने वाले भी स्वतंत्रता का अभाव महसूस करसकते हैं । किन्तु जो संस्कार-युक्त, जन्म तथा कर्म दोनों ही आधारों पर किसी वर्ण के सदस्य हैं, उन्हें कर्तव्य का बोध होता है । ऐसे ब्रह्मण अथवा क्षत्रिय या अन्य किसी वर्ण के सदस्य के लिए जो स्वभावतः उस वर्ण में हो, परतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता । वह जानता है कि उसे क्या करना है । जिसे अपने कर्तव्य का स्पष्ट बोध हो, वह स्वतंत्र होता है । अतएव डॉ० सम्पूर्णानन्द द्वारा दी गई टिप्पणी वर्तमान काल की व्यवस्था के सन्दर्भ में ही सत्य है । इस व्यवस्था के मौलिक स्वरूप पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किन्तु विचारणीय तो वर्तमान और भविष्य है, भूत का विचार करना उतना उपयोगी नहीं है । इसलिए उनके ये विचारउपयोगी हैं ।

समाज-व्यवस्था के रूप में मार्क्सवाद को आधुनिक युग में अत्यधिक महत्व दिया गया है । हेगेल के प्रत्ययवाद का विरोधी होने के कारण इसे भौतिकवाद कहा जाता है । डॉ० सम्पूर्णानन्द की राय में इसे भौतिकवाद के स्थान पर अनात्मवाद अथवा प्रधानवाद कहना अधिक तर्कसंगत है । हेगेल और मार्क्स दोनों ही द्वन्द्ववाद को स्वीकार करते हैं और इसे समाज के विकास की विधि मानते हैं । फिर भी हेगेल प्रत्ययवादी है, और मार्क्स भौतिकवादी या प्रधानवादी ।

भौतिकवादी अथवा प्रधानवादी होने पर भी मार्क्स के विचार भोग-वाद के विरुद्ध हैं । शौच, धैर्य, तप, त्याग, अपरिग्रह आदि को मार्क्सवाद में भी आवश्यक सद्गुण माना गया है । जिस निष्काम कर्म के आदर्श को गीता में स्थापित किया गया है, उसको मार्क्स के दर्शन में भी स्वीकार किया गया है । डा० सम्पूर्णानन्द ने कहा है" द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद चार्वाक और तत्सम अनात्मवादों से सर्वथा भिन्न है । "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:" मानता हुआ भी प्रधानवादी यह नहीं कह सकता कि यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत् ।"[18] मार्क्सवाद भोगवाद का विरोधी है । यह तथ्य इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में भी स्थापित किया गया है ।

सामाजिक-वैषम्य और संघर्ष का मूलकारण, मार्क्सवाद के अनुसार, उत्पादनके साधनों का निजी स्वामित्व है । इसके तीन रूप देखे जाते हैं- प्रथम-भूमि, द्वितीय-पूँजी और श्रम, तृतीय-विनिमय और वितरण के साधन । इन तीनों रूपों में इसका सार्वजनिकीकरण होना चाहिए । मूलकारण के समाप्त हो जाने पर गौण कारण भी समाप्त हो जाते हैं । कारण के समाप्त हो जाने पर कार्य भी समाप्त हो जाता है । अत: उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाप्त करके ही सामाजिक वैषम्य को समाप्त किया जा सकता है सार्वजनिक उत्पादन का लाभ सार्वजनिक हो यही वैषम्य को दूर करने का उपाय है । स्वयं परिश्रम किए बिनादूसरों के परिश्रम से लाभ उठाना ही शोषण है । अत: शोषण को समाप्त करने के लिए भूमि, पूँजी, श्रम एवं वितरण के साधन, सब का सार्वजनिकीकरण आवश्यक है ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के दो रूप होते हैं । एक तो उपभोग्य वस्तुओं के रूप में और दूसरे अर्थोपार्जन के लिए उपयोगी साधन के रूप में । प्रथम प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेकर समाजवादी वही मान्यता रखते हैं, जो जनसामान्य । इसका कोई विरोध नहीं किया गया है । केवल इतना अवश्य है कि उपभोग की एक सीमा होनी चाहिए। असीमित उपभोग का अधिकार भी अन्य लोगों को गरीब बनाने में परोक्षतः सहायक होता है । द्वितीय प्रकार की निजी सम्पत्ति, भूमि, उद्योग पूँजी आदि अशुभ है । यह सामाजिक विषमता की जननी है । डा० सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि " जहाँ उत्पादन के साधन सार्वजनिक सम्पत्ति होंगे वहाँ तो ऐसी बड़ी आमदनी और सम्पत्ति जमा हो ही नहीं सकती, पर जहाँ ऐसा न हो वहाँ भी पूँजीपतियों की आय का बहुत बड़ा हिस्सा टैक्स के रूप में राजकोष में जाना चाहिए, ताकि राज्य ने जो सहायता की है उसकी क्षतिपूर्ति हो जाय और शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा आदि पर खर्च होकर यह रुपया उन सहस्त्रों लोगों तक पहुंच जाय जिन्होंने उसको वस्तुतः पैदा किया था ।"[19] यहाँ डॉ० सम्पूर्णानन्द राजव्यवस्था का पक्ष लेते हैं और संसदीय विधि से समाजवाद की स्थापना का मार्ग सुझाते हैं । वर्तमान काल में यह संसदीय-समाजवाद मार्क्सवाद का एक सशक्त विकल्प बन गया है । किन्तु संसदीय विधि केवल काम चलाऊ विकल्प के रूप में ही स्वीकार्य है । राज्य द्वारा कर के रूप में ली गई धनराशि देने वाले को कुछ भी लाभ नहीं पहुंचाती । परवश होकर दियागया दान फलप्रद नहीं होता । डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि " व्यक्ति पर जो दूसरों का देना है, उसका कुछ अंश तो राज और समाज उससे बालात् वसूल कर लेते हैं

किन्तु यह अंश कुल का बहुत छोटा अंश है । हठात् किए जाने से इसको सदाचार कहते भी नहीं । सदाचार वही आचरण हो सकता है जो स्वेच्छा से किया जाय । जो काम कर्तव्य-बुद्धि से किया जायगा, वही सदाचार, वही धर्म होगा ।"[20] कर के माध्यम से सामाजिक-समता की स्थापना राज्य और व्यक्ति दोनों के लिए अनुचित है । राज्य के लिए वह अनुचित इसलिए है, क्योंकि भारी कर वसूल करने वाले राज्य को कल्याणकारी नहीं कहा जासकता और बिना भारी कर के समाज में भी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं है । व्यक्ति के लिए वह अशुभ इसलिए है क्योंकि स्वेच्छापूर्वक दिया गया न होने से वह व्यक्ति को बन्धन में डालता है । नैतिक- आचरण की आवश्यक पूर्वमान्यताओं में इच्छा या संकल्प की स्वतंत्रता अत्यन्त महत्वपूर्ण है । ऐसी स्थिति में किसी कानून के बन्धन में कर ।टैक्स। देना नैतिक आचरण नहीं हो सकता । धन का उचित अंश समाज के कल्याण के लिए स्वेच्छा से दे देना नैतिक आचरण होगा , किन्तु संसदीय विधि इसमें सहायक नहीं हो सकती । इसमें तो दान और लोकसंग्रह के आदर्श ही सहायक हो सकते हैं । समाजकल्याण या लोक-संग्रह के लिए श्रम, शक्ति, पूंजी का अंश देना " दान" का आदर्श है ।

राज्य -व्यवस्था को वैज्ञानिक समाजवाद में भी केवल एक अस्थायी व्यवस्था माना गया है । इसकी आवश्यकता तभी तक होती है, जब तक समाजवादी व्यवस्था पूर्णरूपेण लागू न हो जाय । पूंजीवादी व्यवस्था के समाप्त होने के बाद लम्बे समय तक व्यवस्थापक राज्य की आवश्यकता होती है ।।किन्तु

अपनी इस आवश्यकताकी पूर्ति के बाद राज्य संस्था स्वयं विलीन हो जाती है । एंजेल्स ने अपने ग्रन्थ "परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य"[21] में निरुपित किया है कि क्रमश: सामाजिक संबंध के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक होता जाता है और फिर यह आप ही विलीन हो जाता है । व्यक्तियों पर शासन करने के स्थान पर वस्तुओं की व्यवस्था और उत्पादन की क्रियाओं का संचालन रह जाता है । राज्य को कोई खत्म नहीं करता, वह खुद मुरझाकर झड़ जाता है । किन्तु समाजवादी राज्यों की शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है । केन्द्रीकरण और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति व्यवहारत: लागू हो रही है । ऐसी स्थिति में राज्य के मुरझाकर झड़ जाने की बात सत्य नहीं लगती । सिद्धान्तत: जिस आदर्श को स्वीकार किया गया है वह उच्च -नैतिक अवस्था की प्रागपेक्षा करता है । व्यक्ति की नैतिक उन्नति को आर्थिक उन्नति के साथ जोड़कर वैज्ञानिक समाजवादियों ने राज्य की आवश्यकता को नकार दिया है । किन्तु नैतिक उन्नति का कोई सीधा संबंध आर्थिक उन्नति से नहीं होता । आर्थिक दृष्टि से उन्नत समाजों में नैतिक दृष्टि से अनेक कमजोरियाँ दिखाई पड़ती हैं । सम्पन्न समाजों में नैतिक प्रतिमानों को परिवर्तित कर दिया जाता है । इन परिवर्तित नैतिक मान्यताओं को सामान्य अर्थ में अनैतिक भी कहा जाता है । अत: आर्थिक उन्नति को अनिवार्यत: नैतिक उन्नति की पूर्वभूमि नहीं कहाजा सकता ।

समाजवाद का इतिहास देखने से यह पता चलता है कि देश-काल के अनुसार इसकारूप बदलता रहा है । डा० सम्पूर्णानन्द इस तथ्य की ओर

संकेत करते हुए कहते हैं कि " समाजवादी-व्यवस्था शून्य में स्थापित नहीं होती। उसके पात्र मनुष्य होते हैं और मनुष्य किसी खास परिस्थिति, किसी विशेष संस्कृति में ही पले होते हैं । सिद्धान्त एक ही होगा, पर देश-काल-पात्र के भेद से उसका व्यवहार किंचिद् विभिन्न रूपों से होगा । न तो आज भारत को सतयुग के समय तक लौटाना संभव है, न उसे ब्रिटेन की नकल बनाना संभव है । पर इसके साथ ही उसको रूस या किसी अन्य देश की नकल बनाना भी संभव नहीं है ।"[22] उनके इन विचारों में झलकता है कि समाजवाद की वेदान्ती रूप-रेखा उनके मस्तिष्क में थी, जिसे वे भारत के लिए संभव एवं उपयोगी मानते थे । समाजवाद के जिस रूप की कल्पना उन्होंने भारतवर्ष के लिए की है, वह यहाँ की संस्कृति में बसा हुआ रूप है । उसका वर्णन प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मिलता है । वह त्याग और अपरिग्रह के सामाजिक मूल्यों पर आधारित समाजवादहै ।

मार्क्सवादियों का मोहभंग हो चुका है । आरंभ में उन्हें यह आशा थी कि विश्वक्रान्ति कासमय आ चुका है । वर्ग -संघर्ष के द्वारा पूँजीवाद की समाप्ति आसन्न है । किन्तु ऐसा नहीं हुआ । रूस आदि कुछ देशों में क्रान्ति हुई भी, किन्तु साम्यवाद नहीं आया । उसका विकल्प और अधिक सशक्त रूप में प्रस्तुत है । केवल आर्थिक-प्रगति को यदि मापदण्ड माना जाय, तब तो समाजवाद, प्रजातंत्र, राजतंत्र या अन्य भी समान रूप से अच्छी व्यवस्थाएं हो सकती हैं । किन्तु समाजवाद के साथ सामाजिक समता आदि ऐसे मूल्य भी जुड़े हैं, जो अन्य व्यवस्थाओं में नहीं पाये जाते ।

दार्शनिक आधार पर वैज्ञानिक समाजवाद से अपनी सहमति और असहमति का ब्यौरा डॉ० सम्पूर्णानन्द ने इसप्रकार दियाहै -"मेरा मतभेद समाजवाद की दार्शनिक विचारधारा से है । द्वैतवादी दर्शन जगत की आध्यात्मिक, राजनीतिक, भौतिक, बौद्धिक, सम्प्रदायिक समस्याओं को सुलझा नहीं सकते । यह काम तो कोई अद्वैतवादी दर्शन ही कर सकता है । मार्क्सवादी दर्शन अद्वैतमूलक है, यह उसकी अच्छाई है । परन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस मूलतत्व "मैटर" का प्रतिपादन करता है, वह जड़ है । इसी जड़ पदार्थ से चेतना का विकास हुआ । बाहरी परिस्थितियों ने उन गुणों का प्रादुर्भाव कराया है, जिनको हम सद्गुण कहते हैं और मनुष्यता की शोभा मानते हैं । चेतना- विशिष्ट प्रधान को ही हम आत्मा कहते हैं । मृत्यु के समय चेतना का लोप हो जाता है और आत्मा विनष्ट हो जाती है ।"[23]

मार्क्सवाद की इस मान्यता के विरुद्ध उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है -" मैं ऐसा मानता हूँ कि जगत का मूल एक अद्वय चिन्मय पदार्थ है । इसे वेदान्त के आचार्य ब्रह्म कहते हैं ।"[24] इस बात को उन्होंने पुनः पुष्ट किया है ।-" यह नोट मेरे दार्शनिक विचारों की व्याख्या के लिए नहीं लिखा गया है । परन्तु इससे इतना तो पता चल सकता है कि मैं व्यावहारिक समाज वाद को वेदान्त (अद्वैतवेदान्त) की भित्ति पर खड़ा करना चाहता हूँ । मेरा विश्वास है कि समाजवाद का जो सार अंश है, उसका शांकर अद्वैतवाद के साथ अच्छी तरह समन्वय हो सकता है ।"[25]

डॉ० सम्पूर्णानन्द मार्क्सवाद की अद्वैत मूलकता की प्रशंसा करते हैं और जड़वाद का विरोध करते हैं । अपने ग्रन्थ समाजवाद के आरंभ में ही उन्होंने इस बात की स्थापना कर दी है कि अद्वैत वेदान्त से समाजवाद का कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है । उनके इस कथन की सार्थकता ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट होती है जब वे अद्वैतवाद को सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक बताते हैं, साथ ही मार्क्सवाद को अद्वैतवादी दर्शन स्वीकार करते हैं ।

किन्तु असहमति को कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता । जड़वाद और चेतनवाद का अन्तर और विरोध दर्शन की शाश्वत समस्या है । आधुनिक युग विज्ञान के हाथों बिका है । अतः इससमस्या का समाधान विज्ञान के आधार पर होना चाहिए । मार्क्स के समय में विज्ञान जड़वादी था । जड़ तत्त्व के स्वतंत्र और मौलिक अस्तित्व को स्वीकार किया जाता था । किन्तु समकालीन विज्ञान जड़द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता । आइन्स्टीन के सापेक्षता-सिद्धान्त ने जड़ द्रव्य को शक्तिरूप में बदल दिया है । उसका जड़त्व विलीन हो गया है । पिछले अध्यायों में देखा गया है कि आज भौतिक विज्ञान भी जड़द्रव्य को गणितीय समीकरणों को सन्तुष्ट करने वाली शर्त मानता है । ऐसी स्थिति में जड़पदार्थ को सृष्टि का मूल मानना असंगत है । जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरे को कैसे सिद्ध कर सकता है । अतः सम्पूर्णानन्द का चिन्मय मूल द्रव्य का सिद्धान्त अधिक संगत लगता है ।

समाजवाद और अद्वैत वेदान्त के समन्वय का जो प्रयास डॉ० सम्पूर्णानन्द ने किया वह अत्यन्त सराहनीय है। थोड़े से मतभेदों को दूर करने के लिए उन्होंने समाजवाद में कुछ परिवर्तन करने की सलाह दी है। जड़वाद के स्थान पर चेतनवाद की स्थापना से समाजवाद सैद्धान्तिक रूपसे अनेक दोषों से बच सकता है। मार्क्सोत्तर वैज्ञानिक-समाजवाद स्वातंत्र्य और व्यक्तिगत-तादात्म्य की ओर झुक रहा है। ऐसी स्थिति में अद्वैत वेदान्त के मूल्यों से संयुक्त होकर वह पूर्ण सिद्धान्त बन सकता है।

1- डॉ० सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, काशी विद्यापीठ वाराणसी, तृतीय संस्करण, सं० 2001, भूमिका पृ० 5-6

2- डॉ० सम्पूर्णानन्द, चिद्विलास, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, सं० 2016 उपोद्घात, पृ० 5

3- वही, पृ० 11

4- वही, पृ० 11

5- वही, पृ० 224

6- वही, पृ० 224-225

7- वही, पृ० 225-226

8- डॉ० सम्पूर्णानन्द , समाजवाद, पृ० 25

9- वही, पृ० 152

10- डॉ० सम्पूर्णानन्द, चिद्विलास, पृ० 229

11- डॉ० सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ० 42-43

12- वही, पृ० 44

13- द्रष्टव्य, वही, पृ० 46

14- वही, पृ० 46

15- वही, पृ० 50

16- वही, पृ० 51

17- वही, पृ० 58

18- वही, पृ0 93

19- वही, पृ0 201

20- डॉ0 सम्पूर्णानन्द, चिद्विलास, पृ0 230

21- पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

22- डॉ0 सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ0 280

23- वही, पृ0 298

24- वही, पृ0 299

25- वही, पृ0 300

निष्कर्ष

शोध-प्रबन्ध के आरंभ से अन्त तक दृष्टि डालने पर हम कतिपय निर्णयों पर पहुँचते हैं जिन्हें निम्न विन्दुओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है । प्रथम विन्दु समाजवाद की जिस धारा से मार्क्सवाद की उत्पत्ति हुई है, उसके अनेक आदर्शों को कार्ल मार्क्स ने भी स्वीकार किया है । मार्क्सोत्तर युग में भी ये आदर्श समाजवादी विचारधारा के अंश बने रहे । द्वितीय विन्दु: समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों को स्वीकार करने के कारण मार्क्सवाद मूलतः एक नैतिक-दर्शन है । तृतीय विन्दु: समाजवाद एवं वेदान्त के आदर्शों में व्यापक समानता है । दोनों के सामाजिक उद्देश्य एक हैं । चतुर्थ विन्दु:समाजवाद भौतिकवादी है, वेदान्त अध्यात्मवादी । इससे दोनों सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भौतिकवाद को व्यावहारिक और अध्यात्मवाद को पारमार्थिक दर्शन मानकर इनमें क्रम-समुच्चय की स्थापना हो सकती है । इस विरोध का समाधान आधुनिक वेदान्तियों और भारतीय समाजवादियों के विचारों में दिखाई पड़ता है । पंचम विन्दु: आधुनिक वेदान्तियों ने समाजवाद को समझा, उसका परिष्कार किया और उसके समुचित आदर्शों को स्वीकार किया है । समाजवाद और वेदान्त के आदर्शों को मिलाकर उन्होंने एक निर्दोष-व्यवस्था के निर्माण का प्रयास भी किया है । षष्ठ विन्दु: आधुनिक युग के भारतीय समाजवदियों पर भी वेदान्त के आदर्शों का प्रभाव पड़ा है । सामाजिक-विधानों के निर्धारण में उन्होंने वेदान्त के आदर्शों का उपयोग भी किया है ।

अस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वेदान्त और समाजवाद के बीच घनिष्ठ संबंध है । दोनों को परस्पर विरोधी मानना असंगत है । वास्तव में दोनों परस्पर पूरक हैं । वेदान्त समाजवादी मूल्यों की पारमार्थिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है और समाजवाद वेदान्ती आदर्शों की व्यावहारिक स्थिति को प्रदर्शित करता है । वेदान्त व्यवहार को परमार्थ तक पहुँचाने का प्रयास करता है और समाजवाद परमार्थ को व्यवहार में उतारने के लिए प्रयत्न करता है । समाजवाद वेदान्त के आदर्शों को स्वीकार करके पूर्ण एवं निर्दोष बन सकता है और वेदान्त । विशेषतः अद्वैत वेदान्त। समाजवाद से जुड़कर लोक-निषेधकत्व के आक्षेप से मुक्त हो सकता है ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी -

1. अनासक्ति योग - महात्मा गाँधी
2. अखिल भारतीय रामराज्य परिषद का चुनाव घोषणा पत्र - प्र० सन्त शरण वेदान्ती
3. ईशावास्योपनिषद
4. ईशावास्यवृत्ति - विनोबा भावे
5. गीता रहस्य - बाल गंगाधर तिलक
6. चिद्विलास - डा० सम्पूर्णानन्द
7. दिनमान - सं० रघुवीर सहाय
8. परिवार व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति - फ्रेडरिक एंगेल्स
9. पूँजी - कार्ल मार्क्स
10. बृहदारण्यकोपनिषद
11. भगवद्गीता
12. भारत: आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक- एस०ए०डांगे
13. मार्क्सवादी दर्शन - वी० अफनास्येव
14. मेरा समाजवाद - महात्मा गाँधी
15. माण्डूक्य कारिका - आचार्य गौड़पाद
16. महाभारत
17. मार्क्सवाद और रामराज्य - करपात्री स्वामी

18. रामचरित मानस - सन्त तुलसीदास

19. रामराज्य और मार्क्सवाद - राहुल सांकृत्यायन

20. राहुल की भ्रांति - करपात्री स्वामी

21. विचारपीयूष - करपात्री स्वामी

22. वैज्ञानिक भौतिकवाद - राहुल सांकृत्यायन

23. वैज्ञानिक समाजवाद के मूलतत्व - वी०जी०अफनास्येव

24. श्वेताश्वतर उपनिषद

25. शारीरक भाष्य - आचार्य शंकर

26. समाजवाद - डा० सम्पूर्णानन्द

27. समाजवाद के निर्माण की कहानी- आई० बर्किम

28. समाज धर्म और राजनीति - प्रो० संगमलाल पाण्डेय

29. समाजवाद, सर्वोदय एवं लोकतंत्र - जयप्रकाश नारायण

30. संदर्शन - सं० प्रो० संगमलाल पाण्डेय

31. सर्वोदय दर्शन - दादा धर्माधिकारी

32. समाजवादी चिन्तन का इतिहास - ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम

33. सरदार पूर्ण सिंह अध्यापक के निबन्ध- सं० प्रभात शास्त्री

ENGLISH

1. Asian Socialism - Ashok Mehta
2. Asparsha Yoga - Astudy of Gaudapada's Mandukya Karika - Colin A cole
3. A History of Political theory - George H Sabine & Thomas L Thorson
4. Builders of Modern India Swami Vivekananda - V.K.R.V. Rao
5. Complete works of Vivekananda - Swami Vivekananda
6. Communism and Gita - H.S. Sinha
7. Caste Culture and Socialism - Swami Vivekananda
8. Encyclopaedia Britanica
9. Ends and Means - Alduous Huxley
10. Eastern Religion & Western thought - S. Radhakrishnan
11. Essays in Sociology - Max Webber
12. Gandhian Thought - J.B.Kripalani
13. Hind Swaraj - Mahatma Gandhi
14. Hindu Dharm - Mahatma Gandhi
15. Historical Materialism - D. Chesnokov
16. Ishavasya Vritti - Vinoba Bhave
17. In the woods of God Realization - Swami Ramatirtha

18. Indian Philosophical quarterly - ed. S.S. Barlingay & Rajendra Prasad

19. Journal of the M.S. University, Baroda

20. Labour Rewarded - Willima Thompson

21. Love of God and Social duty in the Ram Charit Manas - J. Admour Babineu

22. Lokayat - D.P. Chattopadhyay

23. Mahatma Gandhi: A study of his message of non-violence - V.P. Gaur

24. Manifesto of the Communist Party - Karl Marx & F. Engels

25. Philosophy & Myth in Karl Marx - Robert C Tucker

26. Power and Morality - Pritim A Sorokim and Walter A Lunden

27. Religion and Rational outlook - S.N. Das Gupta

28. Review of Darshana - ed. S.L. Pandey

29. Report to the Countyy of Lanark - Robert Owen

30. Sarvodaya and Bhoodan - Vinoba Bhave

31. Science of Social Organization - Bhagwan Das

32. Social Philosophy of Mahatma Gandhi - Mahadeo Prasad

33. Socialism - R.N. Berki

35.	Selected Writings-	-	Henry Comte De Saint Simon
36.	Socialism and Saint Simon	-	Emile Durkheim
37.	Swami Rama : His Life and Legacy	-	Brij Nath Sharga
38.	Shri Aurobindo's Political thought	-	Haridas Mukherji & Uma Mukherji
39.	Speeches and Writings	-	B. G. Tilak
40.	The Wheel of History	-	Dr. R. M. Lohia
41.	The Story of Political Philosophers	-	G. Catlin
42.	The Human Cycle	-	Sri Aurobindo
43.	The speeches	-	Sri Aurobindo
44.	The Life Divine	-	Sri Aurobindo
45.	The Orion	-	B. G. Tilak
46.	The Utopian Vision of Charles Fourier; Selected text on work, love and passionate attraction	-	J. Beecher & R. Benvenu
47.	The Road to equality	-	G. B. Shaw
48.	The Political Philosophy of Shri Aurobindo	-	Dr. V. P. Varma
49.	The Doctrine of Passive Resistance	-	Sri Aurobindo
50.	The Ideal of Human Unity	-	Sri Aurobindo

51. The Socialist thought of Mahatma Gandhi - Dr. Venu Dhar Pradhan

52. The Life of Mahatama Gandhi - Louis Fischer

53. The Socialism Movement - J. Ramsey

54. Vedantic Social Philosophy - S.L. Pandey

55. What is living and What is dead in Indian Philosophy - D.P.Chattopadhyay

56. Young India - M.K. Gandhi